

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

प्रबंध संपादिका :

डॉ. रोहिणी शिवबालन

संपादक-प्रकाशक :

डॉ. देवेश ठाकुर

संयुक्त संपादक :

डॉ. सतीश पांडेय

उप संपादक :

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

संपादकीय-संपर्क :

बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा,
घाटकोपर (पश्चिम), मुंबई-400 084
टेलिफोन : 25161446

Email : sameecheen@gmail.com

विशेष :

‘समीचीन’ में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

विद्वत परीक्षक मंडल : (Peer Review Team)

- डॉ. शरेशचंद्र चुलकीमठ
पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़
- डॉ. अरुणा दुबलिश
पूर्व प्राचार्य, कनोहरलाल महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, मेरठ (उ. प्र.)
- डॉ. पुष्पारानी
अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, हरियाणा
- डॉ. नरेंद्र मिश्र
हिंदी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : देवेश ठाकुर ने मुंबई हिंदी विद्यापीठ प्रिंटिंग प्रेस, हिंदी विद्यापीठ, कीर्त भागोजी मार्ग, मुंबई-400016 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

संपादक : देवेश ठाकुर

वर्ष-10,

मूल्य - 25 रुपए

अंक-19,

पूर्णांक-58

इस अंक में

	पृष्ठ
<input type="checkbox"/> अपने तई (संपादकीय)	४
<input type="checkbox"/> समकालीन सवालों से जूझने की 'ज़िद' भरी कविताएँ डॉ. सतीश पांडेय	६
<input type="checkbox"/> विमर्शों की चौखट से परे असगर वजाहत की कहानियाँ डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट	१३
<input type="checkbox"/> इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में जाति दंश डॉ. शैलेश कुमार दुबे	२३
<input type="checkbox"/> भारतीय लोकतंत्र और मुक्तिबोध का काव्य प्रा. दिनेश पाठक	३१
<input type="checkbox"/> कितनी खूबसूरत हो जाए ये दुनिया अगर हम बच्चों की तरह संवाद करना सीख जाएँ आशा गुप्ता	३८
<input type="checkbox"/> प्रगतिवादी समीक्षा और साहित्य के मानदण्ड कैप्टन डॉ. मोहसिन खान	४०
<input type="checkbox"/> क्या हम वास्तव में शिक्षित हो पाए हैं? सीताराम गुप्ता	५५
<input type="checkbox"/> कविताएँ : अरुणा दुबलिश	६०
मोहम्मद तारिक	६२
तारिक असलम	६४
राधेलाल बिजधावने	६६
माता प्रसाद शुक्ल	६७
देवेंद्र कुमार मिश्र	६७
डॉ. रामदरश मिश्र	६९
<input type="checkbox"/> लघु कथाएँ सत्य शुचि	७१
<input type="checkbox"/> डॉ. उषा दुबे द्वारा वरिष्ठ लेखक एवं कवि डॉ. रामदरश मिश्र का साक्षात्कार	७४

एक नई पहल



समीचीन का अगला अंक
(जुलाई-दिसम्बर, २०१७)
रचनाकार मंगलेश डबराल पर केन्द्रित।
जन्म : १६ मई १९४८

मंगलेश डबराल के पाँच काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'पहाड़ पर लालटेन', 'घर का रास्ता', 'हम जो देखते हैं', 'आवाज भी एक जगह है' और 'नये युग में शत्रु' इसके अतिरिक्त इनके दो गद्य संग्रह 'लेखक की रोटी' और 'कवि का अकेलापन' के साथ ही एक यात्रा वृत्त 'एक बार आयोवा' भी प्रकाशित हो चुका है।

संपादकीय

अपने तई

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने किसानों का ऋण माफ कर के मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के किसानों की उम्मीद बढ़ा दी थी लेकिन छोटे स्तरों पर चल रहे किसानों के आंदोलनों से सत्ताधारी नेताओं के कान पर जूँ भी कहीं रेंगने वाली थी। अतः इस किसान आंदोलन को धीरे-धीरे उग्र करना ही पड़ा। देखते-देखते इसने दोनों राज्यों की सरकारों की नींद हराम कर दी। इसमें आग में घी डालने का काम किया मंदसौर में पुलिस कार्यवाही में ६ किसानों की मौत की घटना ने। विरोधी पक्ष के नेताओं ने भी अपनी राजनीति चमकाने का अवसर पाकर सरकार को आड़े हाथों लेते हुए इन आंदोलनकारियों का न सिर्फ साथ दिया बल्कि वे हिंसात्मक घटनाओं के लिए उन्हें उकसाते हुए भी देखे गए। बहरहाल यह आंदोलन तो समाप्त हो गया है और महाराष्ट्र में छोटे किसानों का कर्ज भी माफ करने की घोषणा कर दी गई है और ५ एकड़ से अधिक जमीन वाले किसानों की कर्ज माफी की समीक्षा करने के लिए एक समिति का गठन भी किया गया है।

एक अच्छी बात यह हुई है कि पहली बार कृषि उत्पाद को न्यूनतम समर्थन मूल्य से कम दाम में खरीदने को मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री द्वारा अपराध घोषित किया गया है। इससे कम से कम किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य तो मिलेगा। वास्तव में कर्जमाफी कोई स्थाई समाधान नहीं है क्योंकि इससे कई बार वे भी लाभान्वित होते हैं जो कर्ज की रकम वापस करने में सक्षम होते हैं या जो चालाकी के कारण कर्ज जमा नहीं करते।

दूसरे, इससे सरकारी खजाने पर जो कई हजार करोड़ रुपए का बोझ पड़ता है वह न सिर्फ सरकारी बजट का घाटा बढ़ाता है बल्कि प्रकारांतर से महंगाई और अतिरिक्त कर के रूप में आम जनता से ही वसूला जाता है। अतः जरूरत उन बुनियादी स्थितियों को बदलने की है जिनमें बिचौलिए और मुनाफाखोरों की प्रमुख भूमिका होती है। एक तरफ किसान को उत्पादन की लागत का मूल्य भी नहीं मिलता तो दूसरी ओर नगरों-महानगरों का आम आदमी भी महंगाई से त्रस्त रहता है। याद रहे कि १९३६ में प्रेमचंद का किसान होरी भी इस कर्ज के चलते ही किसान से मजदूर बनता है लेकिन २०१४ में प्रकाशित भगवान दास मोरवाल के उपन्यास नरक मसीहा का हिम्मत सिंह भी होरी से आगे नहीं बढ़ पाता है। वह भी कहता है — यना साब, हमें या करज ते दूर ही रखो। याने हमें मालिक ते नौकर बना दिए। बिना करज के सुखी थे। ना हम या करज के चक्कर में पड़ते ना हमारी या जमीन की कुर्की होती।’

यानी स्थितियां अभी भी जस की तस हैं। देश की लगभग ५२ प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर है। उसके प्रति सरकार का यह दुलमुल रवैया सचमुच चितनीय है।

**समीचीन का आगामी अंक मंगलेश डबराल पर केंद्रित करने की योजना है।
लेखकों से आलेख आमंत्रित हैं।**

कृपया आलेख ई मेल से भेजें।

□

- सतीश पांडेय

E-mail : sameecheen@gmail.com

- डॉ. सतीश पांडेय

समकालीन सवालों से जूझने की 'ज़िद' भरी कविताएँ

समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर राजेश जोशी ने अपनी कविताओं के माध्यम से अपने समय की जटिलताओं और अंतर्विरोधों को उद्घाटित करते हुए प्रतिरोध के नए उपकरण तलाशने और जीवन को सुंदर बनाने की दिशा में लगातार रचनात्मक हस्तक्षेप किया है। 'ज़िद' उनकी ऐसी ही कविताओं का नया संग्रह है जिसमें उनकी मूल चिंता इस कठिन समय में मनुष्यता को बचाए रखने और मानव जीवन को सुंदर बनाने की है। इसीलिए उनका ध्यान आज के समय की हर उस विसंगति की तरफ जाता है जो मनुष्य-जीवन के लिए चुनौती बनी हुई है।

आज के समय की जटिलता के संदर्भ में राजेश जोशी की स्पष्ट धारणा है कि 'बहुत बड़ी और ऐतिहासिक घटनाओं के बावजूद यह एक अपेतिहासिक समय है, शायद इसीलिए कि इसमें प्रतिरोध की शक्तियाँ अशक्त, असहाय और बिखरी हुई हैं'^१ वस्तुतः आज का समय इतनी चुनौतियों भरा हो गया है कि जो प्रत्यक्षतः विकास और उन्नति का मार्ग प्रतीत होता है। वह हमें अमानवीयता के घोर अंधेरे की ओर धकेल रहा है। भौतिक उपलब्धियों के शिखर पर पहुँच कर भी आज उन उपलब्धियों का सुख बाँटने वाले मनुष्य के आस-पास कोई नहीं होता। वैश्वीकरण और संचार क्रांति ने विश्वग्राम की कल्पना भले ही साकार कर दी हो किन्तु भीड़ में आदमी अकेला होता जा रहा है। बाज़ार के बढ़ते प्रभाव के बीच वह एक उपभोक्ता मात्र है जो पूंजी के हाथों में खेलने के लिए विवश है। नारी को तो इस वैश्वीकरण ने अनेक संदर्भों में एक वस्तु मात्र बना दिया है। वैश्विक धरातल पर चल रहे इस घटनाक्रम में स्थानीय अस्मिता की सुरक्षा का संकट भी पैदा हो गया है। सांप्रदायिकता का स्वरूप भी बदल गया है। अब वह स्टेट स्पांसर्ड भी होने लगी है। इन तमाम संकटों के बीच आम आदमी हाशिये पर खड़ा है। यद्यपि वह अपनी स्थितियों के प्रति सजग हो रहा है किन्तु उसकी लड़ाई आसान नहीं है।

राजेश जोशी समय की इस विकटता से भली भाँति परिचित हैं। इसीलिए वे मानते हैं कि 'कविता के लिए यह समय तनाव, गहरी निराशा, असमंजस और एक तरह की खिन्नता से भरा है। चारों ओर घट रही घटनाओं ने हमारे बहुत सारे सपनों और विश्वासों को आहत किया है। लिखा जा रहा है लेकिन गहरे असंतोष और अपने समय की उस भयावह जिम्मेदारी को पूरी तरह न निभा पाने की

तकलीफ के साथ जो जनता की महान आत्मा की इच्छाओं को आकार देती है'^२

इस स्थिति के बावजूद राजेश जोशी को कविता की शक्ति पर पूरा भरोसा है। यह विश्वास इस संग्रह की कविताओं में जगह-जगह व्यक्त हुआ है। 'समय', 'अंधेरा', 'रोशनी' और 'ज़िद' जैसे शब्द इन कविताओं में जीवन के नए संदर्भों की व्याख्या करने वाले बीज शब्दों की तरह प्रयुक्त हुए हैं। अपनी अधिकांश कविताओं में इन शब्दों के माध्यम से इन्होंने न सिर्फ अपने समय के अंतर्विरोधों को व्यक्त किया है बल्कि प्रतिरोध का नया मार्ग भी तलाशने की कोशिश की है। वे धरती को सुंदर और खुश देखना चाहते हैं। इसीलिए उनके अन्तर के तलघर में बार-बार यह प्रश्न घुमड़ता है कि यह कैसा अंधेरा है जो मेरे साफ़-सुथरे आसमान पर हर पल बढ़ता ही जाता है ?'^३ 'अंधेरे के बारे में कुछ वाक्य' कविता में कवि अपने समय में फैले अंधेरे और रोशनी के आपसी सम्बन्धों को उद्घाटित करते हुए कहता है कि अंधेरा किताब पढ़ना नामुमकिन बना देता है। पता नहीं शरारतन ऐसा करता है या किताब से डरता है। शायद अंधेरे को संदेह हो कि किताब के भीतर कोई रोशनी छिपी हो सकती है। यद्यपि सभी किताबों के बारे में यह कथन उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि कुछ ऐसी किताबें भी होती हैं जो अंधेरा पैदा करती हैं और उसे रोशनी बताती हैं। असल में आज के समय का सबसे बड़ा अंतर्विरोध यही है कि जो चीज जैसी है, वह वैसी दिखाई नहीं देती या वैसी दिखाई नहीं जाती। यह स्थिति बहुत अधिक खतरनाक होती है। कवि मानता है कि अंधेरे से सिर्फ अंधेरा पैदा होता है, यह सोचना गलत है। अंधेरे के भी कई चेहरे होते हैं। अंधेरे का एक चेहरा ऐसा भी होता है जो सत्ता की राजनीतिक ज़िद से पैदा होता है। कवि ऐसे अंधेरे के बारे में कहता है लेकिन इससे भी बड़ा अंधेरा था जो सत्ता की राजनीतिक ज़िद से पैदा होता था या किसी विश्वशक्ति के आगे घुटने टेक देने वाले गुलाम दिमागों से।'^४

सत्ता की राजनीतिक ज़िद से पैदा होने वाला अंधकार अधिक खतरनाक इस लिए होता है क्योंकि मौका लगते ही यह सारे देश को हिंसक उन्माद में झोंक देता है। ऐसे अंधेरे से बहुत से लोग डर जाते हैं और अंधेरे को अपनी नियति मान लेते हैं किन्तु कवि उन ज़िद्दी लोगों के बारे में बात करता है जो अंधेरे के बारे में गाने को ही रोशनी के बारे में गाना मानते हैं। अंधेरे में जब बहुत सारे लोग डर जाते थे और उसे अपनी नियति मान लेते थे तब कुछ ज़िद्दी लोग हमेशा बच रहते थे समाज में जो कहते थे कि अंधेरे समय में अंधेरे के बारे में गाना ही रोशनी के बारे में गाना है। वे अंधेरे समय में अंधेरे के गीत गाते थे। अंधेरे के लिए यही सबसे बड़ा खतरा था।'^५

इस समय की पहचान कवि ने हर दिन बढ़ते अंधेरे के रूप में की है। इसीलिए वह बिजली का मीटर पढ़ने वाले से बातचीत करते हुए पूछता है कि उसकी प्रौद्योगिकी में क्या ऐसी कोई हिकमत है जिससे जाना जा सके कि इस अवधि में हमारे घरों में कितना अंधेरा पैदा किया गया है? इसका उत्तर तो उसे नकारात्मक ही मिलता है किन्तु यहाँ कवि की टिप्पणी अधिक सार्थक प्रतीत होती है हम ऐसे समय के नागरिक हैं जिसमें हर दिन महंगी होती जाती है रोशनी और बढ़ता जाता है अंधेरे का क्षेत्रफल लगातार।'^६

ऐसे अंधेरे समय में चुप्पी बहुत खतरनाक होती है। बक़ौल केदार नाथ सिंह— चुप्पियाँ जब समीचीन

भी बढ़ती हैं / अंधेरे में नदी की तरह / चुप हो जाता है एक पूरा समाज / एक जीता जागता राष्ट्र / भूल जाता है अपनी भाषा।^० राजेश जोशी भी ऐसी हर चुप्पी को तोड़ना चाहते हैं। उनके अनुसार जब भी समाज में निराशा का अंधेरा फैल रहा होता है, कुछ थोड़े से लोग सक्रिय हो उठते हैं। हालाँकि इन लोगों के बारे में अक्सर यही कहा जाता है कि गिनती के इन थोड़े से लोगों के कुछ करने से इस दुनिया में क्या बदल जाएगा? फिर भी एक 'ज़िद' है कि वे लोग लगे रहते हैं अपने काम में। कहीं कोई दुर्घटना, अन्याय, अत्याचार या दंगा हुआ कि वे तत्काल हरकत में आ जाते हैं। कई बार उन्हें भी उदासी घेर लेती है। उन्हें भी लगता है कि उनकी कोई आवाज़ नहीं इस समाज में। दुनियादार लोग उनसे पूछते भी हैं कि आपके इस छोटे-से विरोध से क्या होगा लेकिन वे पलट कर किसी से नहीं पूछते कि तुम्हारे चुप रहने ने ही कौन सा बड़ा कमाल कर दिया है। कवि को यह पता है कि दुनियादार लोगों की चुप्पी ने अपराधियों का हौसला बढ़ाया ही है। इसीलिए वे लिखते हैं—
दुनियादार लोगो ! तुम्हारी चुप्पियों ने ही बढ़ाई है अपराधों और अपराधियों की संख्या हर बार; कि शरीफजादों ! तुम्हारी निस्संगता ने बढ़ाए हैं अन्यायियों के हौसले; कि मक्कार चुप्पियों ने नहीं छोटी-छोटी आवाज़ों ने ही बदली हैं अत्याचारी सल्तनतें।^६

वर्तमान समय को लेकर राजेश जोशी ने अपनी तमाम कविताओं में छोटी-छोटी किन्तु सार्थक टिप्पणियाँ की हैं। जैसे 'एक कुख्यात अपराधी की आत्मकथा' कविता में अपराधी की आत्मकथा के पाठकों की चर्चा करते हुए वे टिप्पणी करते हैं—हमारे समय की तीव्र गतिविधियों को / अपराध की दुनिया से अपनी खुराक मिलती है।^७ इसी कविता में आगे अपराधी की जीवनी खरीदने वाली नई पीढ़ी को कोसते बूढ़े लोग एक महापुरुष की आत्मकथा उस अपराधी की आत्मकथा के बगल से उठा कर अलग रख देते हैं किंतु कुछ ही देर बाद पता नहीं कैसे दोनों आत्मकथाएँ फिर अगल-बगल आ जाती हैं। यहीं कवि की टिप्पणी है कि 'जैसे इसके बगैर / हमारे समय का दृश्य ही पूरा नहीं होता हो।'^८ यह टिप्पणी आज के समय का भयावह यथार्थ उजागर करती है क्योंकि आज समाज में महापुरुष और अपराधी दोनों की उपस्थिति समान रूप से पायी जाती है। यही नहीं, आज कुख्यात अपराधी भी कितने ही लोगों के लिए आदर्श बने हुए हैं।

इसी तरह इनकी एक और टिप्पणी है—'घाटी में समय की टिकटिक / मिमियाने में बदल चुकी है।' वस्तुतः राजेश जोशी समय के भयावह अंतर्द्वंद्वों को बखूबी पहचानते हैं। यह वह समय है जिसमें जो जैसा दिखाई देता है, वैसा होता नहीं। यहाँ अपराधी मसीहा बन कर बैठ गया है। जो क्रांतिकारी बने बैठे हैं, वे भी कल तक घोर यथास्थितिवादी थे। सामान्य जनता के दुख दर्द ही नहीं, उसके आक्रोश को भी उत्सव में तब्दील करके सत्ताधारी उसकी प्रतिरोधक क्षमता का असर खत्म कर देता है। सामान्य जनता की नाराजगी को अभिव्यक्त करने वाले चित्रकार, संगीतकार और शब्दकार सक्रिय एवं प्रभावी हो सकते हैं, लेकिन आज रंग, संगीत और शब्द जैसे लड़ाई के अस्त्रों को भी बेअसर कर दिया जाता है। कलाकारों की इस नाराजगी को बेअसर करने के लिए सत्ता ने बिलकुल नए नुस्खे तलाश लिए हैं।

जनपक्षधरता राजेश जोशी की कविता का केंद्रीय भाव है। उनकी प्रतिबद्धता उस शोषित-

पीड़ित वर्ग के प्रति है जो समाज द्वारा उपेक्षित होकर हाशिये पर डाल दिया गया है फिर भी श्रम पर से उसका विश्वास नहीं डिगता। श्रम-सौन्दर्य को वह जीवन का सर्वोपरि प्रतिमान मानता है। कवि न सिर्फ हाशिये पर डाल दिये गए इन लोगों का जीवन यथार्थ अपनी कविताओं में लाता है बल्कि उन ताकतों के समक्ष एक चुनौती भी प्रस्तुत करता है, जो उनकी इस जिंदागी के लिए कहीं न कहीं जिम्मेदार हैं। सड़क बनाने वालों की पीड़ा वह बड़ी शिद्दत से अनुभव करता है। इसी लिए वह सीधे सवाल करता है तुम क्या जानते हो सड़क बनाने के बारे में, डामर बिछाते बार-बार चिपक जाते हैं बूट; बार-बार खींचकर निकालना पड़ता है जब पाँव तब कितनी खिंचती हैं पाँव की नसें क्या जानते हो तुम?''

इस वर्ग के प्रति कवि की प्रतिबद्धता ही है कि वह उनके जीवन की हर छोटी-बड़ी हलचल से उद्वेलित हो उठता है। किसानों की आत्महत्या का प्रसंग आज का ज्वलंत प्रसंग है। कवि के अनुसार पिछले कुछ वर्षों में डेढ़ लाख से भी अधिक किसानों ने आत्महत्या की है। हालाँकि कवि मानता है कि किसी भी समस्या का समाधान आत्महत्या नहीं हो सकती। मृत्यु सिर्फ मर गए आदमी के दुख और तकलीफें दूर करती है लेकिन बचे हुएओं की तकलीफों में हो जाता है थोड़ा इजाफा और।''

सरकार आत्महत्या के ये आंकड़े सुनकर मुस्कराती है। उसकी आँखों में शर्म या दुख-पश्चात्ताप की एक झलक नहीं दिखाई देती। इस पर कवि ने अपना आक्रोश प्रकट करते हुए लिखा है गुस्से में बेसुध होकर थूकता हूँ सरकार के चेहरे पर, पर वह सरकार नहीं सरकार की रंगीन छवि है और मेरे सिर से बहुत ऊपर थूक के छींटे मेरे ही चेहरे पर गिरते हैं।''

सामान्य जनता और सरकार के बीच की यह टकराहट स्वाभाविक है। इसीलिए कवि वाजिब सवाल खड़ा करता है कि प्रधानमंत्री और एक साधारण नागरिक की घड़ी में बजने वाला समय क्या एक ही हो सकता है ? लोकतन्त्र में जब सत्ता और आम नागरिक के हितों और प्रतिबद्धताओं में टकराव होता है तो सारी गड़बड़ियाँ शुरू होती हैं। इसी लिए राजेश जोशी मानते हैं कि सत्ताएँ अपनी घड़ी का समय अपने देश के नागरिकों की घड़ी के समय से कभी नहीं मिलती और ज्यादातर गड़बड़ियाँ यहीं से पैदा होती हैं।''

कवि उस सामाजिक प्रक्रिया को महत्व देता है जहाँ परस्पर विचार-विमर्श करने की संभावना होती है। यह विडम्बना ही कही जाएगी कि आज विमर्श के स्थान पर बाज़ार को महत्व दिया जा रहा है। बाज़ार का बढ़ता महत्व पूंजीवादी ताकतों के विविध उपक्रमों में से एक वैश्वीकरण की उस प्रक्रिया का ही हिस्सा है, जिसने आज के समय में मनुष्य जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इसने इतिहास के अंत की ही नहीं बल्कि सपनों और स्मृतियों के खत्म होने की घोषणा भी कर रखी है। इतिहास के अंत और स्मृतिहीनता का अर्थ है अपने अतीत से कट जाना। इसका सीधा संबंध अपनी पहचान खो देने या पहचान विहीन हो जाने से है। पहचान विहीन होना संवेदनहीनता को जन्म देता है। कविता या साहित्य का लक्ष्य संवेदना को बचाना ही होता है। अतः वैश्वीकरण और बाज़ारवाद का कविता या साहित्य से सीधा टकराव होना स्वाभाविक ही है। राजेश जोशी का स्पष्ट संकेत है कि वैश्वीकरण ने हमारी स्मृतियों को हमसे छीनने का भयानक षड्यंत्र रचा है विस्मृत हो

चुके हैं फुरसत के पलों के दुख-सुख से भरे किस्से, समय चुरा कर ले गया है कल्पना के सारे घोड़े^{१५}

इसी कारण शहर के भीतर का पूरा शहर ही कहीं गायब हो गया है। लोग अब स्मृतियों में कभी-कभी उसे ढूँढ लेते हैं। स्मृतियों में भी अब वह एक धुंधली-सी तस्वीर भर ही बचा है। पहचान के जितने चेहरे थे, वे सब गायब हो गए हैं। पहचानहीनता के इस दौर में संवेदनहीनता भी बढ़ गई है। शहर में जो बरसात के समय खतरे का निशान समझा जाता था, अब वहाँ तक पानी आ जाने पर शहर में कोई हलचल नहीं होती। इस समय के बारे में कवि डायरी लिखना तो शुरू करता है लेकिन उसे अभिव्यक्त करना कठिन लगता है। इस विडंबना को राजेश जोशी इन शब्दों में लिखते हैं — कहना मुश्किल है कि यह कवि की दिक्कत है या उसके समय की जो इतना उलझा हुआ, अबूझ और अंधेरा समय है कि एक सीधा-सादा वाक्य भी साँप की तरह बल खाने लगता है।^{१६}

राजेश जोशी की अनोखी टिप्पणी है कि 'स्मृतियां जैसे-जैसे धुंधली पड़ने लगती हैं / लड़ने की ताकत छीजने लगती है'^{१७} 'स्मृतिविहीन समय में' कविता आज के इस भयावह समय का बयान करती है। इस कठिन दौर में एक अंधेड़ आदमी एक धुंधला-सा फोटो दिखाकर हर आते-जाते व्यक्ति से पूछता है कि क्या ऐसा कोई घर आपने यहां कभी देखा है? उसका प्रश्न सुनकर लोग आपस में फुसफुसाते हैं कि पता नहीं यह किस जमाने का आदमी है जिसे स्मृतियों पर अब भी भरोसा है।^{१८}

वैश्वीकरण और पूंजी की सांठगांठ का परिणाम है बाजारवाद। इस समय बाजार का आतंक पूरे मानव जीवन को अपनी चपेट में लिए है। इसे राजेश जोशी की एक छोटी-सी किन्तु गंभीर टिप्पणी से समझा जा सकता है — बाजार की गिरफ्त में फंसी दुनिया जैसे बेतहाशा दौड़ती-भागती चीज होकर रह गई है।^{१९} यहां तक की शिक्षा और ज्ञान का क्षेत्र भी बाजार द्वारा संचालित होने लगा है। ज्ञान का स्रोत किताबें भी बाजार की वस्तु बन गई हैं। लकदक बाजार में हाशिए पर धकेल दिया है किताबों को; लाखों किताबें हर दिन सेकंड हैंड किताबों में बदल जाती हैं। गनीमत है कि सेकंड हैंड किताबों में छपे शब्द कभी सेकंड हैंड नहीं होते सेकंड हैंड किताबों में छपी कविताएं कभी सेकंड हैंड नहीं होतीं।^{२०}

बाजार का एकसूत्रीय एजेंडा लाभ कमाना है। अतः वह इसके लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाता है। 'अतिरिक्त चीजों की माया' कविता बाजार के ऐसे ही लुभावने षड्यंत्र को उजागर करती है। पहले लोग जरूरत की चीजें खरीदने बाजार में जाते थे लेकिन अब बाजार चीजों के उत्पादन के बाद हमें उनकी जरूरत अनुभव करवाता है। इसीलिए बाजार से जरूरत की कोई चीज लेने जब हम बाजार जाते हैं तो साथ में एक और चीज मुफ्त थमा दी जाती है। उस चीज की जरूरत नहीं होती लेकिन लेने से हम इनकार नहीं कर पाते और इसी एक कमजोर पल में पकड़ लिए जाते हैं। अतिरिक्त हमारे मन की कमजोरी को पहचानता है। लालच धीरे-धीरे पांव पसारता है। एक अतिरिक्त दूसरे अतिरिक्त को बुलाता है और दूसरा अतिरिक्त तीसरे अतिरिक्त के लिए जगह बनाता है। एक दिन सारी जगह अतिरिक्तों से भर जाती है।^{२१}

इस तरह बाजार हमारे भीतर लालच ही नहीं परस्पर गलाकाट स्पर्धा, घृणा और ईर्ष्या आदि तमाम दुर्गुणों को विकसित कर मानवीय मूल्यों के विघटन को बढ़ावा दे रहा है। इसे ही 'यह समय' कविता में राजेश जोशी ने प्रतिमाओं को सिराए जाने का समय कहा है। अवमूल्यन को इस दौर का सच मानते हुए उन्होंने लिखा है — फिसल रही है हर चीज़ अपनी जगह से कौन कहाँ तक फिसल कर जाएगा, किस रसातल तक जाएगी यह फिसलन; कोई नहीं कह सकता। हमारे समय का एक ही सच है कि हर चीज़ फिसल रही है अपनी जगह से।^{२२}

इस फिसलन भरे समय में अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने वाली ताकतों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है। अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने के कारण उन्होंने आसमान की ऊंचाई छूने वाले को भी अपने कदमों में झुका लिया है; धरती ने बनाया था जो चांद, अपनी जगह से फिसल कर किसी कारपोरेट के बड़े से जूते में दुबक कर बैठा है — बिल्ली के बच्चे की तरह।^{२३}

कॉरपोरेट जगत की निगाह सिर्फ शहरों और महानगरों में बड़े कारोबार हथियाने तक सीमित नहीं है बल्कि अब उनकी निगाह में खुदरा व्यापार और छोटे-छोटे किसान भी हैं। वे छोटे-छोटे किसानों के खेतों पर भी निगाह गड़ाए बैठे हैं। 'विकल्प' कविता में राजेश जोशी किसानों के इस संकट पर विचार करते हुए लिखते हैं — संकट बढ़ रहा है; छोटे-छोटे खेत अब नहीं दिखेंगे इस धरती पर ! कॉरपोरेट आ रहे हैं कॉरपोरेट आ रहे हैं सौंप दो उन्हें अपनी छोटी-छोटी जमीनें मर्जी से, नहीं तो जबरदस्ती छीन लेंगे। वे कॉरपोरेट आ रहे हैं, जमीनें सौंप देने के सिवा कोई और विकल्प नहीं तुम्हारे पास।^{२४}

इस तरह चांद ही कारपोरेट के जूते में दुबककर नहीं बैठा है बल्कि मामूली किसान भी उसकी चपेट में आ रहा है। अपनी जमीन सौंपने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प यदि किसान के पास बचता है तो यही कि वह शहरों की ओर भागे जहाँ न तो वह किसान रहेगा न मजदूर बल्कि घरेलू नौकर बन सकता है या अपराध जगत का दरवाजा भी उसके लिए खुला है। ऐसे भयावह समय में शोषण का शिकार होने से बचने का एक ही विकल्प है, संगठित होकर संघर्ष करना। राजेश जोशी इस ओर स्पष्ट संकेत भी करते हैं — आप अभी लामबंद न होना चाहो, लड़ना न चाहो, तो अब भी तो एक सबसे बड़ा विकल्प खुला है आत्महत्या का।^{२५}

कवि का लक्ष्य इस धरती के लोगों के जीवन को सुंदर बनाने का रहा है लेकिन उसके सामने साफ-सुथरे आसमान पर हर पल बढ़ता जा रहा अंधेरा है। उसे इस बात की भी कचोट होती है कि तमाम कोशिशों के बाद भी इस धरती पर हंसी कम होती जा रही है। कारों की संख्या बढ़ रही है। आंखों के सामने ज्यादा रंगीन दृश्य हैं। चारों ओर रोशनी ही रोशनी है। हालांकि तकनीक ने जीवन को पहले से ज्यादा आसान बनाया है लेकिन झूठ, व्यभिचार और कचरा अधिक जमा होता जा रहा है। अपराध बढ़ते ही जा रहे हैं तथा अपराधी ज्यादा खूंखार और ताकतवर हो रहे हैं। इसीलिए इस कठिन समय में कवि लोगों का आवाहन करता है — ओ मेरे समय के लोगों ! मैं अनुरोध करता हूँ कि हँसो शासक की अंधी ताकत से बचने के लिए डरकर नहीं हँसो कि हँसने के पल कम हो रहे हैं हमारी धरती पर हँसो कि विरोध करने की ताकत कम हो रही है हमारे समाज में हँसो कि स्वप्न समीचीन

देखने का रोमान चुक रहा है।^{२६}

राजेश जोशी ने बच्चों के खत्म होते बचपन पर कई महत्वपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। 'नसरगट्टे' कविता में बाल मजदूरी करने को विवश और स्कूल से लेकर घर तक तथा मालिकों द्वारा भी पीटे जाने वाले बच्चों के बारे में कवि का एक अलग नज़रिया दिखाई देता है। कवि के अनुसार ये बच्चे इतने पिट चुके होते हैं कि वे रोना भूल जाते हैं। इस क्रूरता के बीच भी उनके दिमाग में कमाल की शरारतें उपजती हैं। उनकी शरारतों से चाकूबाज़ गुंडे और क्रूर हो चुके पुलिसवाले भी हँस-हँस कर दोहरे हो जाते हैं। कवि का मानना है कि कम से कम उस क्षण क्रूर लोग भी मनुष्य की तरह नज़र आते हैं। उसके अनुसार ये बच्चे अपनी शरारतों से आज भी जीवन को हँसने लायक बना रहे हैं।^{२७}

इस तरह राजेश जोशी की कविताएँ समकाल को उसकी समग्रता में न सिर्फ व्याख्यायित करती हैं बल्कि उन सभी सवालों से सीधे-सीधे टकराती भी हैं जिनके कारण मनुष्य जीवन में निराशा एवं अंधेरा फैलता है। चाहे बाजारवादी - पूंजीवादी व्यवस्थाका कोई षड्यंत्र हो या सत्ता की कोई जनविरोधी नीति, वे मुखर रूप में प्रतिपक्ष की भूमिका में दिखाई देते हैं। स्थितियों के चित्रण तक ही वे सीमित नहीं रहते बल्कि जिद्दी लोगों की तरह अंधेरे समय में अंधेरे के बारे में गीत गाकर उसके लिए सबसे बड़ा खतरा पैदा करते हैं। उनमें जीवन के प्रति गहरी आस्था एवं संघर्ष भावना है। वे जानते हैं कि मक्कार चुप्पियाँ अन्यायियों के हौसले बढ़ाती हैं। अतः सीमित दायरे में ही सही विरोध की भूमिका को वे महत्वपूर्ण मानते हैं। वर्तमान समाज और राजनीति की हर हलचल उनकी कविताओं में जगह बना लेती है। धर्म और सांप्रदायिकता का सत्ता से जुड़ाव उनके लिए आज के जीवन की सबसे बड़ी विडंबना है। इस तरह इस अंधेरे समय में जीवन को सुंदर बनाने की हर संभव कोशिश ही उनकी कविता के केंद्र में है। जीवन के प्रति अपने से सकारात्मक दृष्टिकोण के कारण वे मानते हैं कि अभी सब कुछ नष्ट नहीं हुआ है।

संदर्भ :

१. आलोचना सहस्राब्दी अंक १, पृ. २४६, २. वर्तमान साहित्य, अप्रैल-मई, १९९२, पृ. ६, ३. ज़िद, पृष्ठ ४६, ४. वही, पृ. १६, ५. वही, पृ. १६, ६. वही, पृ. ४१, ७. कवि ने कहा, पृ. ११८, ८. वही, पृ. ३५, ९. वही, पृ. ३१, १०. वही, पृ. ३२, ११. वही, पृ. ७८, १२. वही, पृ. ८५, १३. वही, पृ. ८२-८३, १४. ज़िद, पृ. ४०, १५. वही पृ. ४५, १६. ज़िद, पृ. ६३, १७. ज़िद, पृ. ९८, १८. ज़िद, पृ. ९८, १९. वही, पृ. ४५, २०. ज़िद, पृ. २२, २१. ज़िद, पृ. ५४, २२. वही, पृ. ७४, २३. वही, पृ. ७५, २४. वही, पृ. ८४, २५. वही, पृ. ८५, २६. वही, पृ. ६६, २७. वही, पृ. २५

□

— अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
के. जे. सोमैया कला व वाणिज्य महाविद्यालय,
विद्याविहार, मुंबई-४०००७७

समीक्षा :

- डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

विमर्शों की चौखट से परे असगर वजाहत की कहानियाँ

आज व्यक्ति मूल्यों को ताक पर रखकर जीवन जीने के लिए विवश दिखाई दे रहा है। जिसकी परतें खोलने के लिए अब लेखक की आश्यकता नहीं है क्योंकि आए दिन समाज के इस नंगेपन को उघाड़ने के लिए अखबार व टीवी चैनल अपनी महती भूमिका अदा कर रहे हैं।

मूल्यहीनता के इस दौर में व्यक्ति अपने स्वार्थों को साधने के लिए सभी हर्षे पार करता दिखाई देता है। वह सत्ता व धन को पाने के लिए किसी भी प्रकार के अपराध, हिंसा और बेइमानी से नहीं कतराता। आज व्यक्ति असहिष्णु होता जा रहा है। वह किसी को भी शोषित अपमानित करने में संकोच नहीं करता। ऐसे माहौल में रचनाकार के लिए रचना करना चुनौती भरा कार्य बन गया है।

‘डेमोक्रेसिया’ में संग्रहीत असगर वजाहत की कहानियाँ उस दौर की कहानियाँ हैं, जब स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श तथा अल्पसंख्यक विमर्श आदि से हटकर लिखना लेखक होने पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देता है। इन सभी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद असगर वजाहत ने समाज के अनछुए संदर्भों को अपनी कहानी का विषय बनाया है। साथ ही नये लेखकों के इस भ्रम को भी दूर किया है कि विमर्शों के कटघरे में रहकर लिखने वाला ही लेखक नहीं होता बल्कि इससे बाहार निकलकर लिखने वाला भी लेखक होता है और ज्यादा अच्छा लेखक होता है।

इस संग्रह की पहली कहानी ‘ड्रेन में रहने वाली लड़कियाँ’ काफी मर्मतक है। आज एक तरफ देश में लड़कियों के लिए तरह-तरह की योजनाओं की घोषणाएँ की जा रही हैं तो दूसरी तरफ लड़कियों के साथ दोगम दर्जे का व्यवहार किया जा रहा है। उन्हें पैदा होते ही ड्रेन में बहा दिया जाता है। लेखक कहता है -सरला से मिलने कोई नहीं आया था। न सास, न ससुर, न पति, न देवर, न ननद सरला चाहती थी न थी कि वे आएँ। दस साल यानी शरीर पर निकले दस बड़े-बड़े फोड़े। पहली लड़की का जन्म फिर दूसरी अब...तीसरी। (डेमोक्रेसिया, पृष्ठ-१७)। सरला अपनी शादीशुदा जीवन से इतनी तंग आ चुकी है कि अपने कलेजे पर पत्थर रखकर वह अपनी नन्हीं सी बच्ची को फ्लश के पानी के साथ गटर में बहा देती है। वह नहीं चाहती थी कि जिस तरह का नारकीय जीवन वह जी रही है, कल उसी तरह का जीवन उसकी बच्ची को भी जीना पड़े। इसीलिए वह अदालत में समीचीन

कहती है कि मैंने अपनी बच्ची को 'पाँट' में डालकर फलश चला दिया था, उसने यह भी माना था कि उसने यह अपनी बच्ची के सुंदर भविष्य के लिए किया था और माँ-बाप का काम अपने बच्चों के भविष्य को सुधारना है। (पृष्ठ-१८) यहाँ लेखक ने सरला के माध्यम से जीवन से भागने की प्रेरणा दी है। यह जीवन के नकारात्मक पक्ष को अभिव्यक्ति देता है। यहाँ पर लेखक यह भूल रहा है कि जीवन सिर्फ संघर्ष करने के लिए ही होता है। जो जितना संघर्ष करेगा उसके जीवन में उतना ही निखार आएगा।

बाद में सरला को उसके ससुराल वाले जला देते हैं। सरला के पिता व भाई के पास मुकदमा लड़ने का समय नहीं है। वे विचार करते हैं कि गवाही कौन देगा? पैसा कौन खर्च करेगा। बड़े लड़के की दुकान है। छोटा लड़का प्रॉपर्टी डीलर है। सुबह सात बजे निकलता है, रात ग्यारह बजे आता है। मुझे मोतियाबिंद है, हाय ब्लड प्रेशर रहता है। पेंशन के पैसे पूरे नहीं पड़ते। एक लड़की ब्याहने को बैठी है। बिरादरी में बदनामी हो गई कि मुकदमेबाज है तो लड़का भी न मिलेगा। (पृष्ठ-१९) इस प्रकार अपनी व्यस्तता, भागदौड़ के चलते और बदनामी के भय से सरला के पिता व भाई कोर्ट में बयान दे देते हैं कि सरला की मौत वास्तव में एक दुर्घटना थी। बाद में सरला की राख को उसी ड्रेन में बहा दिया जाता है जहाँ उसने अपनी बेटी को बहाया था। जब सरला उस ड्रेन में पहुँचती है तो वहाँ का दृश्य देखकर हैरान हो जाती है। वह देखती है कि ड्रेन के अंदर लड़कियाँ ही लड़कियाँ हैं। पूरी दुनिया है पर वहाँ सिर्फ लड़कियाँ हैं। तितलियों की तरह उड़ती, महकती, चिड़ियों की तरह गाती और डाल-डाल पर बैठती लड़कियाँ। झरने की तरह रास्ता बनाती और किसी वाद्य यंत्र की तरह संगीत को जन्म देती। लड़कियाँ। सिर्फ लड़कियाँ ... हर जगह — बाजारों में, घरों में, सिनेमाहालों में, होटलों में, कारखानों में, दुकानों में... जहाँ हैं सिर्फ लड़कियाँ हैं... ड्रेन के अंदर लड़कियों की दुनियाँ आबाद है। (पृष्ठ-१९)

लेखक दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही लड़कियों की कमी को लेकर चिंतित है। वह पुरुष समाज को आगाह करता है कि यदि समय रहते उन्होंने अपनी मानवीयता को नहीं जगाया तो वह दिन दूर नहीं जब उनका अस्तित्व इस दुनियाँ से खत्म हो जाएगा।

'तमाशों में डूबा देश' इस संग्रह की एक ऐसी कहानी है जिसमें लेखक ने देश की यथार्थ स्थिति को खोलकर रखने का प्रयास किया है। लेखक देश में दिनप्रतिदिन बढ़ती अराजकता, भ्रष्टाचार, शोषण, अत्याचार, अमानवीयता, असहिष्णुता आदि को लेकर चिंतित है। लेखक अपने अन्य कहानीकार मित्रों से कहता है कि वे कहानी-वहानी लिखने का काम छोड़ दें। हमारे इस देश में जहाँ रोज़, हर पल, हर जगह कहानी से ज्यादा निर्मम घट रहा हो वहाँ कहानी लिखना बेकार की बात है। अपने चारों तरफ निगाह उठाकर देखिए, आपको बिखरी पड़ी कहानियाँ देखकर अपने कहानीकार होने पर शर्म आएगी जो मुझे आ चुकी है और मैंने कहानियाँ लिखना बन्द कर दिया है।..... और वाक्या लिखना शुरू। (पृष्ठ-२३) लेखक इस बात को लेकर चिंतित है कि आज हमारे अहिंसक देश में हर तरह की हिंसा तरक्की पर है। लेखक एक वाक्या सुनाते हुए कहता है कि विधानसभा के

सामने किसी मुद्दे को लेकर अनिश्चितकालीन अनशन जारी था। किसी सामाजिक सरोकार के मुद्दे पर किसी संस्था की ओर से प्रतिदिन एक आदमी अनशन पर बैठता था। आज पम्मी शर्मा बैठे थे। वह उभरता हुआ नेता था जिसने अपने लिए सभी पार्टियों के दरवाजे खुले रखे हैं। लेखक कहता है कि मैंने सोचा - क्यों न पम्मी शर्मा से मिल लूँ, ऐसी घड़ी में मेरे दो शब्द उसे ताकत देंगे और फिर पम्मी से कोई काम पड़ा तो उसे याद रहेगा कि मैंने कठिन क्षणों में उससे कुछ अच्छे शब्द कहे थे। (पृष्ठ- २३) गरज यह कि मैं उसके पास गया तो उसने कहा यार एक दिन के लिए तुम भी अनशन पर बैठ जाओ। (पृष्ठ- २३) बाद में पता चला कि जो अनशन से हटेगा उसे टेंटवाले का, चायवाले का, जूस वाले का, माली का 'पेमेंट' करना होगा। (पृष्ठ- २४) इस तरह लेखक कहता है कि आज यदि हम किसी की मदद करने की नीयत से कोई काम करना भी चाहें तो पता नहीं, उसका हमें किस रूप में दंड भोगना पड़ेगा। इस तरह आज व्यक्ति का व्यक्ति से विश्वास उठता ही जा रहा है जो बड़ी चिंता का विषय है।

समाज में संतुलन बनाए रखने के लिए सदैव पुलिस की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस पर देश की आंतरिक सुरक्षा की जिम्मेदारी है। यदि पुलिस ही अपने कर्तव्यों से मुंह मोड़ने लगे तो पूरी की पूरी सामाजिक व्यवस्था ही चरमरा जाएगी। लेखक ने लोकतंत्र में पुलिस की निश्चितता और कार्य पद्धति पर प्रश्न खड़ा किया है। उनका मानना है कि आज पुलिस अपने कार्यों के प्रति उदासीन है। वह घटनाओं को लेकर बिल्कुल संवेदनशील, चिंतित नहीं है इसीलिए पत्नी द्वारा गायब आदमी की शिकायत दर्ज करने पर वे उससे कहते हैं अभी तक कोई सिर कटी लाश नहीं मिली है, जैसे ही मिलेगी उसे बता दिया जाएगा। (पृष्ठ- २५) इस प्रकार पुलिस की संवेदनहीनता की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। पुलिस उसके पति को खोजने का आश्वासन देने के बजाय कहती है कि यदि वह जिंदा मिल भी गया तो आप देखोगी कि या तो उसकी आँख नहीं होगी या किडनी या शरीर का अन्य कोई अंग। इस प्रकार इस देश में आम आदमी की कोई कद्र नहीं है। जबकि विदेशों में कुत्ते को भी कुत्ता कहने मात्र से ही दंडित किया जाता है। जिससे संबंधित एक वाक्या इस प्रकार है, कुछ साल पहले अमेरिकी राष्ट्रपति जब अपने दल-बल के साथ दिल्ली आए थे तो उनके साथ कुत्ते भी थे। उनके कुत्तों की प्रतिष्ठा, गरिमा व पद आदि के बारे में मालूम न होने के कारण एक भारतीय अधिकारी ने उन्हें कुत्ता कह दिया था। इसी बात पर उस अधिकारी के खिलाफ कुत्तों की मानहानि का दावा कर दिया गया था। अदालत में अमरीकी सरकार के प्रतिनिधि ने कहा था — ये कुत्ते नहीं हैं इनके नाम और पद हैं। एक का नाम जैक जॉनी है और वह मेजर के पद पर है। दूसरे का नाम स्टीव शाँ है जो कैप्टन है। तीसरी कुतिया का नाम लिंडा जॉन्स है जिसने अभी-अभी ज्वाइन किया है और वह सेकंड लेफ्टिनेंट है। अदालत ने इन अधिकारियों की मानहानि करने के सिलसिले में संबंधित अधिकारी को सजा सुनाई थी। और यह आदेश दिया था कि भविष्य में इन कुत्तों को कुत्ता नहीं कहा जाएगा। (पृष्ठ- २६) समाचार पत्रों में यह बात लगातार सुर्खियों में रही। समाचार पत्र भी उन्हीं खबरों को छापते हैं जहाँ से उनका लाभ जुड़ा हो।

अब जब समाचार पत्रों की बात आ ही गई है तो लेखक ने इनकी करतूतों का पर्दाफाश करने समीचीन

में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है। एक रात को जब मंत्री जी के घर से बेबी रतन व बेबी गौरी का अपहरण हो गया। इन्हें (कुत्तों के पिछों को) मंत्री-पुत्र यू.एस. से खरीदकर लाए थे। पुलिस को इस बात की खबर मिलते ही यह बात आग की तरह फैल जाती है। पुलिस ने इसे 'ऑपरेशन टूथ' नाम दे डाला। अब क्या था। चैनल वाले पुलिस को पटाने की होड़ में लग गए। 'जलवा' चैनल वालों ने पुलिस को यह समझाकर पटाया कि 'ऑपरेशन टूथ' के बाद चैनल पुलिस का इंटरव्यू दिखाएगा। यह बात 'चैनल फोर, फाइव, सिक्स' वाले को पता चल गई। उन्होंने पुलिस को पच्चीस हजार नकद देने का वायदा किया। कहा कि 'जलवा' वालों की जगह उन्हें पूरे 'ऑपरेशन टूथ' में साथ रखा जाए, यह बात 'मून चैनल' वालों को पता चली तो उन्होंने गृह मंत्रालय के एक सीनियर ऑफिसर से फोन कराया कि पुलिस 'मून चैनल' वालों को प्राथमिकता दे। (पृष्ठ-२७) आज लेखक इस बात को लेकर चिंतित है कि स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी समाज में जन सामान्य की स्थिति कुत्ते से भी गयी गुजरी हो गई है। लोकतंत्र के चारों स्तम्भ जिन पर जनसामान्य के कल्याण की जिम्मेदारी है वे अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में जुटे हुए हैं।

'खेल का मैदान गुस्से में है' में लेखक ने आज खेल जगत में खिलाड़ियों पर बढ़ते जा रहे दबाव को रेखांकित किया है। इसमें क्रिकेट के खेल को लेकर वैश्विक स्तर पर दर्शकों का अति उत्साह और अपने देश के खिलाड़ियों से हमेशा उत्कृष्ट अभिनय की अपेक्षा, खिलाड़ियों पर लगातार दबाव बनाए रखता है। खिलाड़ियों के प्रदर्शन पर सिर्फ देश की जनता की नजर ही नहीं रहती बल्कि बड़ी-बड़ी कम्पनियों के सीईओ भी इन पर अपनी नजर टिकाए रहते हैं, जो अपनी कम्पनी के लिए 'ब्रांड अम्बेसडर' चुनने का इंतजार कर रहे होते हैं। साथ ही विज्ञापन कम्पनियों के एम.डी. भी मौजूद हैं जो खिलाड़ियों के रेट फिक्स करने के लिए आए हैं। आज राकेश सावंत के रेट का फैसला होने जा रहा है पिच पर राकेश सावंत है और नेशनल प्रीमियर लीग में उसकी बोली घट-बढ़ रही है। ये चौका लगाया। अब डेढ़ करोड़ का पैकेज। ये बॉल मिस कर दी, पचास लाख कम कर दो। ये छक्का...। (पृष्ठ-३५) और जब देश विश्व चैम्पियन हो जाता है तो समाचार पत्र के पहले पन्ने से लेकर चारों तरफ उत्सव का माहौल बन जाता है। हर तरफ से बधाइयों के संदेश आने लगते हैं। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, संसद के स्पीकर, विरोधी दल के नेता सबने टीम को बधाई संदेश भेजे। पूरा देश क्रिकेट खिलाड़ियों के लिए पागल हो गया। लेखक के मन में एक प्रश्न खड़ा होता है कि अपने कार्य में सफलता मिलने पर सिर्फ सफल व्यक्ति को ही नहीं बल्कि सभी को खुशी होती है तो देश का हर व्यक्ति अपने कार्यों को क्रिकेट के खिलाड़ियों की तरह क्यों नहीं करता? आगे लेखक एक प्रेस रिपोर्टर द्वार देश के बड़े राजनीतिज्ञ से क्रिकेट की सबसे बड़ी खूबी के बारे में पूछता है तो राजनीतिज्ञ कहता है कि क्रिकेट के कप्तान और खिलाड़ियों का सबसे बड़ा गुण यह है कि उन्हें राजनीति में कोई रुचि नहीं है। (पृष्ठ-३९) यदि देश का प्रत्येक व्यक्ति घृणित राजनीति करना छोड़कर अपनी जिम्मेदारियों को पूरी निष्ठा व लगन के साथ निभाने लगे तो विश्व में हमारे देश को चैम्पियन बनने से कोई नहीं रोक सकता।

'मैं और पद्मश्री' के अंतर्गत लेखक ने आजकल साहित्य के क्षेत्र में मिलने वाले विविध प्रकार समीचीन

के पुरस्कारों की पोल खोलकर रख दी है। लेखक बताते हैं कि उनके एक मित्र को हाल ही में पद्म श्री की उपाधि से सम्मानित किया गया है। यहाँ लेखक को अपने मित्र को पुरस्कार मिलने का दुःख नहीं है बल्कि दुःख यह है कि यह स्तरीय पुरस्कार इस व्यक्ति को कैसे मिल गया ? जिसके चरित्र पर ही प्रश्नचिन्ह लगा हो। वे इस बात की तह तक पहुँचने के लिए सीधे अपने पद्मश्री मित्र के पास ही पहुँच जाते हैं जो सगर्व पद्मश्री की उपाधि मिलने की बात बताते हैं। तब लेखक कहता है, ओहो... तो ये बात है... ये बताओ क्या जुगत भिड़ाई थी..... तुम्हारे ऊपर तो लड़की भगा ले जाने का मामला अब तक चल रहा है और वो मांट्रियाल वाला केस..... वो भी तो अखबारों में छपा था। (पृष्ठ-५३) यह सब सुनते ही लेखक का मित्र उससे कतराने लगता है। इतना ही नहीं, बल्कि उनके साँझों मित्रों को भी पद्मश्री अब लेखक के पास जाने से रोकने लगाता है। इस प्रकार लेखक ने पुरस्कारों के गिरते स्तर की पोल खोलकर रख दी है।

आज शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी ही विचित्र स्थितियाँ देखने को मिल रही हैं। पाठ्यक्रम के निर्धारण के लिए कमेटी के विशेषज्ञों को योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि पद के आधार पर चुना जाता है। जो पाठ्यक्रम की संवेदना से अनभिज्ञ हैं। वे पाठ्यक्रम में हेर-फेर सिर्फ इसलिए करते हैं ताकि कुछ परिवर्तन दिखे। उन्हें न तो बच्चों के स्तर का ज्ञान है, न ही उनके भविष्य की चिंता है और न ही देश के भविष्य की। इसीलिए लेखक 'पढ़ोगे लिखोगे तो होंगे खराब' के माध्यम से वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को लेकर चिंतित दिखाई देता है। विद्यालय का एक अध्यापक विषय विशेषज्ञ डॉ. आर. बी. सक्सेना से कहता है कि देखिए सर, यह रसोई घर का चित्र बना है..... हमारे बच्चों ने तो गैस सिलेंडर, फ्रिज, बर्तन रखने की अल्मारियाँ देखी तक नहीं होतीं... उनकी समझ में यह सब कुछ क्या आएगा ... ? (पृष्ठ-६०) अर्थात् पाठ्यक्रम निर्माता इसे तैयार करने से पूर्व न तो इस संबंध में अध्यापकों से कोई चर्चा करते हैं और न ही विद्यार्थियों से। शिक्षकों ने विद्यालय की दूसरी सबसे बड़ी समस्या अध्यापक-विद्यार्थी के अनुपात के संबंध में डॉ. सक्सेना को बताया कि हमारे स्कूल में सात सौ लड़के हैं। ग्यारह अध्यापक है। एक क्लास रूम में तीन क्लासों बैठती हैं। एक अध्यापक एक साथ तीन कक्षाओं को पढ़ाता है.....। (पृष्ठ-६१) इस तरह हमारे देश में सामान्य विद्यार्थियों के लिए विद्यालय तो हैं लेकिन उसमें पढ़ाया जाने वाला पाठ्यक्रम उनके अनुकूल नहीं है और न ही शिक्षकों की संख्या ही विद्यार्थियों के अनुपात के अनुकूल है।

हमारे समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था की तरह ही स्कूलों की स्थिति हो गई है। अमीरों के लिए महँगे स्कूल हैं, उच्च मध्यम वर्ग के लिए उनके स्तर के स्कूल हैं, मध्यम वर्ग के लिए उनके तरह के स्कूल व सामान्य वर्ग के लिए ऐसे स्कूलों की व्यवस्था की गई है जहाँ न तो पर्याप्त शिक्षक हैं और न ही किसी तरह की सुविधाएँ। ऐसे स्कूलों में सामान्य वर्ग का जाना सिर्फ समय की बर्बादी भर है। इसीलिए एक अध्यापक डॉ. सक्सेना से कहता है— सर अब बात निकल आई है तो कहने दीजिए सर.... हमारे स्कूलों में हमारे अधिकारियों के बच्चे क्यों नहीं पढ़ते ? मंत्रियों के बच्चे सरकारी स्कूलों में क्यों नहीं जाते। (पृष्ठ-६२) इस तरह लेखक ने सरकारी स्कूलों में विद्यार्थियों की घटती जा रही संख्या के कारणों का उल्लेख तो किया है। साथ ही उनकी स्थितियों में सुधार के संकेत भी समीचीन

दिए हैं।

‘आत्मघाती कहानियाँ’ में लेखक ने ग्यारह घटनाओं को पाँच-पाँच, छह-छह पंक्तियों में प्रस्तुत किया है। इन्हें लघु कहानियाँ कहा जा सकता है। लेखक ने इस संग्रह में इस तरह का प्रयोग अनेक कहानियों में किया है। इस कहानी में अनेक विकृत मानसिकता वाले इंसान के रूप में हैवानों की श्रेणी में रखे जाने वाले चरित्रों का उल्लेख है। इनमें संवेदना नाम की कोई चीज़ नहीं होती। एक आतंकवादी सरदार ने अपने गिरोह के एक आतंकवादी को बुलकर उसके सिर में गोली मार दी। आतंकवादी की पत्नी रोती बिलखती अपने पति की लाश को घसीटने लगी तो सरदार बोला- तुमसे अकेले नहीं जाएगी.. अपने बच्चों को भी बुला ला। (पृष्ठ-७०) इस कहानी के एक अंश में लेखक ने नेताओं पर करारा व्यंग्य किया है। आज नेता अपने विचारों को व्यक्त करने तथा अपनी ताकत का लोहा मनवाने के लिए घटनाओं का इंतजार करते हैं। भयानक विस्फोटकों की आवाज से पूरा देश थर्रा गया। हर तरफ लाशें और रोते-बिलखते लोग थे। ऐसे में देश के प्रधानमंत्री टी.वी. पर बयान देते हैं-हम इस अमानवीय, घृणित आतंकवादी घटना की निन्दा करते हैं। सरकार आतंकवादियों के सामने कभी नहीं झुकेगी। हम आतंकवाद को मुँहतोड़ जबाब देंगे... अपराधी हर कीमत पर सजा पाएँगे... सरकार हर मरने वालों को पाँच-पाँच लाख मुआवज़ा देगी...और हर मारने वाले को दो-दो लाख रुपया?(पृष्ठ-६६) यह सुनते ही चारों तरफ हो हल्ला मच गया। प्रधानमंत्री हैरान। वे अपने कैबिनेट सेक्रेटरी से पूछते हैं कि क्या मैंने कोई नई बात कह दी? क्या ऐसा पहले नहीं होता रहा। (पृष्ठ-६६)

‘गुमनाम आदमी की कहानियाँ’ में लेखक ने गुमनाम आदमी के माध्यम से आदमी की विविध स्थितियों का उल्लेख किया है। जिनमें आदमी का अचानक बड़ा हो जाना, उसके नाम लॉटरी लग जाना, नेता का कहा न मानने का दंड, शांति द्वारा अपमान व डॉक्टरों का उसके प्रति रवैया आदि का उल्लेख हुआ है। गुमनाम व्यक्ति के बच्चे उसके गुमनाम होने के कारण नाराज थे। एक बार उसके नाम लॉटरी का टिकट निकलता है और वह खरबपति बन जाता है। उसके बच्चे परेशान रहने लगे कि ‘वह किस बच्चे को क्या देता है? पत्नी परेशान रहने लगी कि बच्चे परेशान रहते हैं। गुमनाम आदमी परेशान हो गया कि सब परेशान हैं। उसने तंग आकार पैसा लौटा दिया। बच्चों को जब पता चला तो उन्हें इतना गुस्सा आया कि उन्होंने गुमनाम आदमी की हत्या कर दी।’ (पृष्ठ-७६) इस प्रकार लेखक ने समाज में लगातार बढ़ती जा रही बर्बरता और स्वार्थपरता का उल्लेख किया है।

हमारा समाज हमेशा से विषमताओं से घिरा रहा है। एक तरफ समाज का दस प्रतिशत हिस्सा अमीरी की सारी हर्दें पार कर चुका है तो दूसरी तरफ कीड़े-मकोड़ों की तरह समाज का नब्बे प्रतिशत हिस्सा बद से बदतर जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। जब-जब देश में इलेक्शन आए तब-तब सभी दलों ने चुनाव के पहले इनके उत्थान का संकल्प लिया किंतु इस वर्ग की स्थिति आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। लेखक ने ‘यहाँ से देश को देखो’ कहानी के माध्यम से इनकी दशा को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है हाथ काले हैं, हथेलियों में रेखाएँ नहीं हैं। कोई रेखा नहीं

है न भाग्य की, न उम्र की, न पैसे की, न परिवार की। उँगलियों पर मोटे-मोटे सख्त गट्टे पड़े हैं। लगता है जानवरों जैसा काम करते-करते ये हाथ खुर बन गए हैं। लेकिन अगर इनमें और खुरों में अंतर है तो यही है कि खुर मालाएँ नहीं पकड़ सकते। खुर चुनाव निशान पर ठप्पा नहीं लगा सकते। खुर हाथ नहीं जोड़ सकते। (पृष्ठ-९०) यह वर्ग अपने पेट की आग बुझाने के लिए अथक परिश्रम करता है जो अप्रत्यक्षतः समाज के विकास में महत्वपूर्ण स्थान तो रखता ही है, साथ ही उस तथाकथित समृद्ध वर्ग के स्वागत-सत्कार में जो करोड़ों रुपए खर्च होते हैं, वह इसी वर्ग की देन है। लेखक कहता है—अगले दिन ही लोगों ने देखा कि किसी जादू से एक बड़े से इलाके के चारों तरफ प्लास्टिक की दीवारें खड़ी हो गई हैं। गेट लग गए हैं। बड़े से अहाते के अंदर सड़कें बन गई हैं। बिजली के हंडे जल रहे हैं। पेड़ लग गए हैं जो रोशनी में जगमगा रहे हैं, घास के मैदान बन गए हैं, पानी के फौव्वारे छूट रहे हैं। जादू की नगरी में महल दो-महले बन गए हैं। (पृष्ठ-९०) ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस प्रकार की सजावट बनावटी है जिस पर खर्च किया गया लाखों रुपया समारोह समाप्त होते ही बेकार हो जाएगा।

इस समारोह के भव्य मंच के सामने हेलीकॉप्टर से प्रधानमंत्री, मंत्रीमंडल, पक्ष और विपक्ष के नेता संसद, हर जाति के नेता, सरकार, सर्वोच्च न्यायालय, प्रेस और मीडिया, पंडित, मौलवी, महंत, योगी, आचार्य, मफिया सरगना, डॉन, सुपर स्टार और शताब्दी नायक व नायिकाएँ उतरी। इस बात से लेखक यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि भले ही समाज के सामने ये सत्ताधारी व अन्य लोग एक दूसरे पर छींटा-कशी करते रहें लेकिन अंदर से ये सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इतना ही नहीं, लेखक इनकी इच्छा शक्ति व शांतिर दिमागी का परिचय कृषिमंत्री के वक्तव्य के माध्यम से देता है—आप लोग चिंता न करें, हम कुछ ऐसा करने जा रहे हैं कि खेतों में हैम्बर्गर और चिप्स फला करेंगे...कारें उंगी, टी. वी. और फ्रिज़ पैदा होंगे। (पृष्ठ-९१) इस प्रकार लेखक कहता है कि समारोह में उपस्थित समृद्ध लोगों द्वारा समान्य लोगों को चकाचौंध युक्त जिंदगी के सपने दिखाकर, उनसे उनकी खेती-बाड़ी छीनकर उन्हें सड़क पर लाने की योजना को परवान चढ़ाने की तैयारी की जा रही है।

आज हम विश्व के सबसे समृद्ध लोकतांत्रिक देश में रह रहे हैं। लोकतंत्र का अर्थ है लोगों का, लोगों के लिए, लोगों द्वारा निर्मित व्यवस्था। जहाँ लोगों को अपने विचार खुलकर रखने का अधिकार होता है। साथ ही जहाँ लोग अपने ऊपर हो रहे भेद-भाव का विरोध करने में सक्षम होते हैं। लेकिन आज समय के साथ-साथ लोकतंत्र का अर्थ बदलता जा रहा है। समाज के लोग लगातार बढ़ते जा रहे अपराधों का शिकार होते जा रहे हैं। अब उनके पास अपने अधिकारों के प्रति तटस्थ रहने का अधिकार भी नहीं रह गया है। लेखक 'कत्लेआम का मेला' में कहता है—अब गिनती करना छोड़ दिया गया है। क्या फर्क पड़ता है, न मारने वाले की आँख में आँसू आता है और न मरने वाले के रिश्तेदार ही रोते हैं। सबने मान लिया है, जान लिया है, समझ-बूझ लिया है।

-ये पानी माँगने गए थे।

-वे बिजली माँगने गए थे।

-और इधर... पता नहीं कितनी लाशें पड़ी हैं।

-वे इंसफ माँगने गए थे।

-क्यों मार दिया ?

-बहुत बड़ा जुर्म किया है। (पृष्ठ-९६)

इस तरह लोकतंत्र में संवेदनहीनता की सारी हदें पार हो चुकी हैं। अब व्यक्ति को अपने अधिकारों के संबंध में पूछ-ताछ करने का भी अधिकार नहीं रह गया है। ऐसा करने पर उसे दंडित ही नहीं किया जाता बल्कि उसे अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़ता है। इस प्रकार आज व्यक्ति एक जिंदा लाश बनकर रह गया है। लेखक ने यह भी संकेत किया है कि अब व्यक्ति की संवेदनाएँ दिन-प्रतिदिन मरती जा रही हैं।

व्यक्ति के परिवेश का उस पर प्रत्यक्षतः व अप्रत्यक्षतः प्रभाव पड़ता ही रहता है। वह जिस परिवेश में रहता है। उस में रह रहे व्यक्तियों के खान-पान, रहन-सहन, विचार आदि का प्रभाव उसके मन-मस्तिष्क पर पड़ता ही रहता है। ठीक इसी प्रकार का प्रभाव हमें 'अपाहिज' कहानी में देखने को मिलता है। इस कहानी में सात साल का चिटू है जो गली में रात-दिन एक किए रहता है। चौथी क्लास में जाता है, लेकिन बातें ऐसी करता है जैसे सबका बाप हो। आज बाल काटते हुए अप्पिज्जी ने पूछ लिया था क्यों चिटू बड़े होकर क्या बनोगे ?

- मैं फौज में जाऊँगा।

- अच्छा ?

- कैप्टन बनूँगा।

-फिर क्या करोगे ?

-फिर मैं देश के दुश्मनों से लड़ूँगा।

- कौन है देश का दुश्मन ?

- पाकिस्तान।

- पाकिस्तान !

- हाँ पाकिस्तान। (पृष्ठ-१०९)

यह सुनते ही अप्पिज्जी के पाँव तले जमीन खिसक गई। उसकी गोल-गोल आँखें नाचने लगीं। उन्हें पूरा विश्वास है कि यह बात उसने मुहल्ले के लड़कों से सीखी है। नहीं तो सात साल के

चिट्ठू को क्या पता कि पाकिस्तान किस चिड़िया का नाम है? अतः शिक्षा का कोई निश्चित स्थान नहीं होता। बच्चे इसे प्रत्येक क्षण ग्रहण करते रहते हैं। फिर चाहे वह परिवार हो, विद्यालय हो, या आस-पड़ोस अथवा यारों की सभाएँ। इन जगहों पर जिस तरह की चर्चाएँ होंगी उसी तरह का चित्र बच्चों के मन-मस्तिष्क पर अंकित होता चला जाएगा। तत्पश्चात् बच्चे उन अंकित चित्रों को यथार्थ का जामा पहनाने में जुट जाते हैं। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से भविष्य में आने वाली इस प्रकार की नई समस्याओं से समाज को अवगत कराने का प्रयास किया है जिनका बीज हम लोग बोने का काम कर रहे हैं।

हम जिस समाज या देश में रहते हैं वहाँ पर जन सामान्य अपनी मूलभूत आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा और मकान) को लेकर चिंतित है। जनता के प्रतिनिधियों को इनकी चिंताओं से कोई लेना-देना नहीं है। वे तो पद पाते ही इस चिंता में लग जाते हैं कि उनकी आनेवाली सात पुरतें आराम से बैठकर खाएँ। मानों उन्हें इस बात का पूर्वाभास हो गया हो कि उनकी आने वाली पुरतें अपाहिज व अकर्मण्य पैदा होंगी।

‘मुख्यमंत्री और डेमोक्रेसिया’ में बताया गया है कि एक बार मुख्यमंत्री के क्षेत्र में बाढ़ आ जाती है। मुख्यमंत्री हेलीकॉप्टर से पानी वाले क्षेत्र का मुआइना करने पहुँचते हैं। वहाँ का दृश्य देखकर वे बाढ़ पीड़ितों की सुरक्षा के बजाय अपनी सुरक्षा के बारे में पायलट से पूछने लगते हैं। तभी मुख्यमंत्री ने अचानक हेलीकॉप्टर का दरवाजा खोला और नीचे कोसी की मुख्यधारा में सैकड़ों फुट नीचे चले गए। अब वे कीचड़ में फसे एक-एक लाश को पहचानकर निकालने लगे। और जब वे ऊपर आए तो उनके पास चार सौ लाशें थी। मीडिया के लिए यह दृष्य ब्रेकिंग न्यूज का काम करने लगा। प्रधानमंत्री ने मुख्यमंत्री को बधाई संदेश भेजा। तभी मीडिया ने मुख्यमंत्री से पूछा, ‘हमने सुना है, आप केवल अपने वोटों की लाशें निकालकर लाए हैं।’ मुख्यमंत्री ने कहा, ‘अरे तो विरोधी दल वाले भी चले जाते कोसी की गोद में, अरे ये तो डेमोक्रेसिया है। (पृष्ठ-१०५) और आगे जब इसकी भरपाई के लिए मुख्यमंत्री प्रधानमंत्री से दस हजार करोड़ रुपयों की माँग करते हैं तब प्रधानमंत्री कहते हैं।

- इतना पैसा तो आपको नहीं मिल सकेगा।’ - प्रधानमंत्री तोते जैसा बोले।

- काहे? खजाने में पैसा तो है।’

- अरे है तो पर आपको नहीं मिलेगा।’

- अरे तो पैसा किसके लिए है?’ मुख्यमंत्री चिढ़कर बोले।

- चंदवा?’

- हाँ, अगले वर्ष हम, मतलब भारत सरकार चाँद पर राकेट भेज रही है। उसके लिए पचास हजार करोड़ रखा है। (पृष्ठ-११२) इस तरह से हम देखते हैं कि हमारे जन प्रतिनिधि ऐसी-ऐसी

योजनाओं में पैसा लगाते हैं जिससे जन सामान्य का कोई लेना-देना नहीं होता है।

औद्योगीकरण के दौर में एक तरफ रोजगार के अवसर बढ़े तो दूसरी तरफ मालिकों की बर्बरता भी बढ़ी है। वे जिन मजदूरों के बदौलत मिल मालिक बने हैं उन्हीं पर जुर्म ढहाने लगते हैं। उनके लिए ये सिर्फ कठपुतली बनकर रह जाते हैं। 'नो रेड लाइट इन इंडिया' में इसी मानसिकता को लोगों के समक्ष लाने का प्रयास किया गया है। इस कहानी के मुख्य पात्र बीरू भाई हाईस्कूल फेल हैं। लेकिन व्यापार के मामले में उन्होंने टाटा और बिड़ला को भी पछाड़कर रख दिया है। अर्थात् उन्होंने कार्पोरेट जगत का नया व्याकरण रचा है। बीरू अपने छोटे बेटे रतन के साथ बाहर निकलता है। रतन जब पिता से सीट बेल्ट बाँधने को कहता है वह मना कर देते हैं। तब वह कहता है-डैड ये लेटेस्ट मॉडल की कैडीलॉक उस वक़्त तक स्टार्ट नहीं होगी जब तक आप बेल्ट नहीं लगाएँगे। (पृष्ठ-१२०) लेखक ने यहाँ यह बताने का प्रयास किया है कि जो लोग इंसानों के बनाए नियमों को ताक पर रख देते हैं उनसे अब मशीन नियमों का पालन करवाने में सक्षम है। ऐसे लोगों की संवेदनहीनता का पता तब चलता है जब पहले पिता अपने बेटे से एक सौ बीस की गति से चलती कार को फुटपाथ पर सोए लोगों पर चढ़ाने को कहते हैं। बेटे के मना करने पर पिता ने गुस्से से रतन की तरफ देखा और उन्होंने जोर से स्टेरिंग फुटपाथ की तरफ घुमा दिया। गाड़ी पचास-साठ सोए लोगों को कुचलती हुई नीचे सड़क पर आ गई। (पृष्ठ-१२३) ये फुटपाथ पर सोए हुए लोग बीरू के लिए आदमी नहीं हैं। वे अपने अमेरिका से हार्वर्ट बिज़नेस स्कूल से एम.बी.ए. बेटे को यह समझाते हैं कि ये सब आदमी नहीं, कठपुतलियाँ हैं। यहाँ रतन की डिग्री धरी की धरी रह जाती है। वह कहता है — ओ गॉड मैं कंफूज़ हो गया हूँ, सच-सच बताइए वो क्या थे? (पृष्ठ-१२४)

संक्षेप में यह कि असगर वजाहत ने 'डेमोक्रेसिया' के माध्यम से समाज के संवेदनशील पहलुओं का जिक्र किया है। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक व शैक्षणिक क्षेत्रों के गिरते स्तर को लेकर चिंता व्यक्त की है। यदि समय रहते इन पर नियंत्रण नहीं किया गया तो ये परिस्थितियाँ आने वाली पीढ़ियों के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं। अस्तु !

□

— अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
रामनारायण रुइया कॉलेज,
माटुंगा, मुंबई ४०००१९

- डॉ. शैलेश कुमार दुबे

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में जाति दंश

इक्कीसवीं सदी की कहानियों में जाति प्रथा का चित्रण बहुत ही संजीदगी के साथ रचनाकारों ने किया है। २१वीं सदी के समाज में ग्लोबल की बातें होती हैं लेकिन वे केवल बातें ही हैं। आज इंसान लोकल और ग्लोबल दोनों बनना चाहता है वह अपनी मानसिकता पर विजय प्राप्त नहीं करना चाहता। 'मेरा खून खून है दूसरे का खून पानी' यही मूल वाक्य हैं। आज के डिजिटल युग में भी जाति व्यवस्था बनी हुई है, यह सामाजिक सच्चाई है। व्यक्ति की योग्यता का कोई अर्थ नहीं। कवैल भारती के अनुसार-जिस देश में करोड़ों लोग जाति के आधार पर मानवाधिकारों से वंचित रखे गए हों, वह देश सभ्य कैसे कहला सकता है? एक देश की समाज-व्यवस्था में एक सवर्ण हमेशा सवर्ण क्यों रहता है? एक अछूत हमेशा अछूत क्यों रहता है? यह व्यवस्था अपरिवर्तनीय क्यों है? यह कैसी व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति की योग्यता कोई मायने नहीं रखती और जाति ही योग्यता का मापदंड है? (दलित विमर्श की भूमिका- कवैल भारती-पृष्ठ संख्या - २२)

इक्कीसवीं सदी की कहानियों में जाति का दंश शोषण, अन्याय, उत्पीड़न, अत्याचार इत्यादि के रूप में वर्णित हुआ है। भारतीय समाज में चाहे शिक्षित हो, योग्य हो, गुणवान हो किन्तु जाति व्यवस्था सर्वोपरि है। वर्तमान हिन्दी कहानियों में यह सब सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्तर पर प्रकट हुआ है। वर्तमान समाज में अस्पृश्यता की भावना, मैला ढोने की प्रथा, दास प्रथा, घृणित व अपमानित जीवन जीने के लिए मजबूर करती है। इक्कीसवीं सदी की कहानियों में जाति प्रथा को निम्न बिन्दुओं के आधार पर चित्रित किया जा सकता है :

१-ऊँच- नीच की भावना-

भारतीय समाज में अस्पृश्यता की भावना आज भी बनी हुई है। समाज में अस्पृश्यता का मूल कारण ऊँच- नीच की भावना है। भारतीय संविधान की धारा १७ के अंतर्गत अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है किन्तु यह केवल कानून तक ही सीमित है। रत्नकुमार सांभरिया की कहानी 'बदन दबना' में अस्पृश्यता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कहानी का 'पूछाराम' 'हल्का सिंह' की हवेली पर एक नौकर के रूप में कार्य करता है। 'पूछाराम' के परिवार की आर्थिक स्थिति खराब होने की वजह से उसके पिता 'रैमाराम' उसे हवेली पर काम करने के लिए छोड़ आते हैं। 'रैमाराम' को समीचीन

अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए रुपयों की जरूरत होती है, वह 'हल्कासिंह' से दस हजार रुपये लेकर अपने होनहार पुत्र 'पूछाराम' को पाँच साल के लिए 'हल्का सिंह' की हवेली पर गुलामी करने के लिए छोड़ जाता है। हवेली में निम्न जाति के 'पूछाराम' के साथ अस्पृश्यता का भेदभाव होता है। 'पूछाराम' निम्न जाति से संबंधित होने के कारण हवेली में रखी वस्तुओं को छू नहीं सकता। हवेली में 'पूछाराम' से पहले 'अमरिया' भी नौकर था। 'पूछाराम' गरीब था। अतः उसे यह अन्याय सहना पड़ा। 'हल्काराम' दलित 'पूछाराम' के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए कहता है— सामने पेहड़ी पर अमरिया की मटकी रखी है। उसी पर गिलास है। कोने में हैंडपम्प है। प्यास लगे, पानी खींच लाना। सुन! जी अलमारी की तरफ न हाथ बढ़ाना, न देखना। जी रोटी हम अपने हाथ देंगे। (खेत तथा अन्य कहानियाँ -रत्नकुमार सांभरिया, पृष्ठ संख्या - १०४)

२-वृद्ध आश्रम में जातिवाद

श्योराज सिंह बेचैन की कहानी 'ओल्डएज़ होम' का पात्र 'तेजगुलाम' अपनी जाति व नाम से दुखी रहता है कि उसके माता-पिता ने उसके नाम के साथ गुलाम शब्द क्यों जोड़ दिया। अपनी शादी हो जाने के बाद वह अपने बूढ़े माँ-बाप को ओल्डएज़ होम (वृद्ध आश्रम) में रहने के लिए छोड़ आता है। तेजगुलाम के वृद्ध माता-पिता को ओल्डएज़ होम (वृद्ध आश्रम) में अपनी निम्न जाति की वजह से भेदभाव झेलना पड़ता है। वहाँ सवर्ण जाति के वृद्ध उनसे जाति को लेकर बातें पूछते हैं। कर्मचारी भी तेजगुलाम के बूढ़े माँ-बाप का काम नहीं करते। वे उन्हें खुद अपना काम करने के लिए कहते हैं। उनके साथ छुआछूत का व्यवहार किया जाता है। ओल्डएज़ होम (वृद्ध आश्रम) में सवर्ण वर्ग के वृद्धों को पहले भोजन दिया जाता है, बाद में निम्न जाति के वृद्धों को। तेजगुलाम के माता-पिता डायरी लिखते हैं, जिसमें उन्होंने अपने साथ हुए दुर्व्यवहार को अभिव्यक्त किया। तेजगुलाम की माँ 'सीता' डायरी में लिखती है कि ओल्डएज़ होम (वृद्ध आश्रम) में सवर्ण जाति की स्त्रियाँ उसके साथ अस्पृश्यता की भावना रखती हैं। भेदभाव के कारण उन्हें पानी स्पर्श नहीं करने दिया जाता। रामकली अहिरन है तो सूद्र, सूद्र होने पर उसने भी मुझे अपने घड़े से पानी नहीं पीने दिया। पूजा के वक्त सबके कान में कहा कि यह तो अछूतिन है। ('भरोसे की बहन' श्योराज बेचैन - पृष्ठ संख्या - ३३)

३-शिक्षा में जातिवाद की भावना

समाज में उच्च वर्ग निम्न वर्ग के साथ दुर्व्यवहार करता है। जिसका परिणाम होता है विकास में देरी और अमीरी-गरीबी की खाई का महासागर में परिवर्तन। सुशीला टाकभौरे की कहानी 'संघर्ष' का 'शंकर' कक्षा में उच्च जाति के सहपाठियों से अपमानित होता है। कहानी में 'शंकर' की नानी मैला ढोने का काम करती है। अछूत होने की वजह से उसे तिरस्कृत होना पड़ता है। - घर में मत आ... बाहर भाग... बाहर दूर खड़ा होकर बात कर... (सुशीला टाकभौरे -पृष्ठ संख्या - १०) शंकर जिद्दी युवक है। उसे सवर्ण जाति के लोग किसी वस्तु को स्पर्श नहीं करने देते। वह जानबूझकर सामान को स्पर्श करता है।

अरे... अरे,

हट... हट,

चल भाग...

छूत कर रहा है। ...

पाजी कहीं का...

कुत्ता...

सुअर...।' (वही, सुशीला टाकभरै -पृष्ठ संख्या -१०)

४-परम्पराओं में जातिवाद-

भारतीय समाज में रीति-रिवाज का विशेष महत्त्व है। परम्पराओं के नाम पर उच्च वर्ग निम्न वर्ग का खेल समाज में आज भी व्याप्त है। एस. आर. हरनोट की कहानी 'सवर्ण देवता दलित देवता' का शहनाई मास्टर अपने लड़कों को शहनाई बजाने के गुण सीखाता है। उसे 'लीलादास शर्मा' के घर में देवताओं की पूजा व सेवा करने के लिए भेजा जाता है। रात में सर्दी के प्रकोप से बचने के लिए सवर्ण लोग कंबल व रजाइयों को लेकर सो रहे थे। 'लीलादास शर्मा' ने दलित वर्ग के लिए कोई व्यवस्था नहीं की थी। रजाई लेने के कारण पुजारी दलित लड़के पर भड़क जाता है। - ओ छोकरे! तेरा दिमाग खराब हो गया है। दिखता नहीं तेरे को। यहाँ रथ रखा है। उसे छू दिया तैने। तेरी हिम्मत कैसे हुई यहाँ आने की और रजाई में हाथ लगाने लगा। (जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ, एस. आर. हरनोट-पृष्ठ संख्या -६९)

५-गृहस्थ जीवन में जातिवाद

भारतीय समाज में घरों के अंदर काम करने वाले लोगों के साथ आज भी पुरातन दृष्टि के आधार पर व्यवहार किया जाता है। चित्रा मुद्गल की कहानी 'डोमिन काकी' में निम्न जाति की रतनी सवर्ण जाति के घर सफाई का काम करने जाती है। बिट्टो अपनी दादी के कहने पर रतनी को अनाज देने के लिए कहती है। उसका अनाज गिर जाता है तथा बिट्टो अनाज उठाने में उसकी मदद करती है। इसपर उसकी दादी उसे चेतवानी देते हुए कहती है —

— बेशऊर मूरख

— छू लिया तूने रतनी को ?

— आइन्दा,

— ख्याल रहे बिट्टो,

— रतनी को कुछ भी देने के लिए कहीं तो ऊपर से कौंच में फेंक देना,

खबरदार उसे छूना मता' (लपटे, चित्रा मुद्गल-पृष्ठ संख्या-१०५)

६-रोजगार में जातिवाद

आरक्षण का उद्देश्य वर्तमान में पूर्ण नहीं हो रहा। वह जिस उद्देश्य से बना था, उससे कोसों दूर है। रजत रानी 'मीनू' के कहानी 'गिरोह' में दलित वर्ग के साथ रोजगार के स्तर पर अन्याय होता है। जाति के आधार पर समाज में उन्हें शोषित जीवन जीने के लिए मजबूर किया गया है। कहानी में स्वतन्त्रता दिवस पर सर्वर्ण जाति के लड़के विद्यालय-प्रांगण में जाति को लेकर चर्चा कर रहे हैं कि उन्हें आसानी से रोजगार कैसे प्राप्त होगा। उच्च जाति का राजबहादुर कहता है हम लोग एस. सी., एस. टी. या ओ. बी. सी. के सर्टिफिकेट्स बनवा लेते हैं। फिर देखते हैं, हमें कैसे नौकरी नहीं मिलती? कम परिश्रम, पूरी सुविधाएँ, ऊपर से रियासतें। यह सब करके भी अगली कक्षा में प्रवेश भी आसानी से मिल जाएगा। यह सर्टिफिकेट बनने पर हमारी चाँदी ही चाँदी होगी। वजीफा भी मिलेगा। हमें पॉकेट मनी के लिए मम्मी पापा के पास हर महीने गिड़गिड़ाना भी नहीं पड़ेगा। (गिरोह रजत रानी 'मीनू' - बयान पत्रिका-जुलाई - २०११-पृष्ठ संख्या - २२)

७-जातियों में फूट डालो, राज करो

भारत को आज़ाद हुए ६८ वर्ष हो गए। आज भी अंग्रेजों की नीति 'फूट डालो, राज करो' प्रासंगिक बनी हुई है। जाति व्यवस्था में लोग टूट रहे हैं। -भारतीय समाज में दलित थे नहीं, वे एक ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया में भारत के मूल निवासियों से ही अप्राकृतिक रूप से क्रूर सत्ता व दमन का प्रयोग कर 'दलित' बनाए गए हैं। अजीब बात है कि विश्व के अन्य देशों से दास प्रथा सैकड़ों वर्ष पूर्व समाप्त हो गई, लेकिन हमारे देश में हजारों वर्षों से जबरदस्ती थोपी गयी जाति व्यवस्था व एक बहुत बड़े मानव समूह का जातिगत आधार पर उत्पीड़न व दमन आज तक जारी है।' (दलित साहित्य एक मूल्यांकन चमनलाल -पृष्ठ संख्या -१४)

ब्रह्मा नंद की कहानी 'संकल्प' में 'मोहनलाल' उच्च जाति के लोगों द्वारा निम्न जाति के लोगों पर शोषण और अन्याय को देखते हुए अपने दोस्त विजय को उच्च वर्ण की प्रधानता के विषय में कहता है कि कब तक हम इनके दास बने रहेंगे-

— मोहन क्यों मुर्दों में जान फूंकना चाहते हो,

— ये अपने को पूरी तरह गुलाम मान चुके हैं।

— अब इनके मन पर जर्मीदारों का कब्जा हो चुका है चाहे वे उन्हें मारे या काटे उन्हें नहीं जागना है।

— गलती उनकी भी नहीं है।

— बामन ने कभी भी हमें एक जुट रहने ही नहीं दिया,

— वे हमेशा हमें तोड़ते रहे हैं और हम हमेशा टूटते।

— इसे बदलना इतना आसान नहीं है, सदियों की मानसिक गुलामी तुम एक पल में नहीं तोड़ सकते हो।' (संकल्प ब्रह्मानन्द- - बयान पत्रिका-फरवरी -२०११-पृष्ठ संख्या -२१)

८-अधिकार के स्तर पर जातिवाद

आज परंपराओं के कारण समाज में उच्च जाति का वर्चस्व स्थापित है। - उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों वाली समाज-व्यवस्था में, जहां आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि सभी स्तरों पर ऊँच-नीच, भेदभाव और अपवर्जन या अधिकार-वंचना के जरिये मनुष्यों के द्वारा मनुष्यों का शोषण किया जाता हो तथा शोषण को जारी रखने के लिए इस व्यवस्था को बनाये रखना ज़रूरी समझा जाता हो, वहाँ उत्पीड़ितों को मान का अधिकार कैसे मिल सकता है?' -(उत्पीड़ितों का मानाधिकार रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय -पृष्ठ संख्या -०७)

समाज में दलित चाहे आर्थिक स्तर से मजबूत हो या शिक्षा के स्तर से फिर भी जाति के आधार पर मान-सम्मान का अधिकारी नहीं होता। सूरजपाल चौहान की कहानी 'सारे जहाँ से अच्छा' में कैप्टन 'वीरेंद्र' के साथ जाति के आधार पर भेदभाव किया जाता है। गाँव में बदनी ठाकुर का बड़ा बेटा 'रामवीर' वीरेंद्र को ज़मीन देने से मना करता हुआ अपने पिता से कहता है-

- तुम्हारी बुद्धि भिष्ट ना हो गयी,

— भंगिया कू अपनी धत्ती बेक (बेच) रहे हो ...

— ये गाम की रीति नायँ,

— ठाकुर और नीच कू धत्ती बेक दे ...

— सुनो है एसौ कहीं,

— काहे नाक कटवाओ। (नया ब्राह्मण सूरजपाल चौहान -पृष्ठ संख्या- ३५)

रामवीर अपने बड़े भाई 'जयवीरा' को जातिगत मानसिकता रखते हुए कहता है—

- अरे जयवीरा,

— ताली दैके हँसेगे गाम के ...

— कहेंगे ठाकुर ने एक भंगी कू अपनी धत्ती बेक दीनी!

— ना,

— कतई ना,

— जिनके बाप दादा हम ठाकुरों की गुलामी करते आये हों और आज वह हमारे सीना पर हल

चलाएँ...

— मेरे रहते ऐसी ना होगी।

— जयवीरा व भंगिया के संग रहके तेरो तो दिमाग खराब है गयो है।' (नया ब्राह्मण, सूरजपाल चौहान -पृष्ठ संख्या- ३५)

९-नौकरी के लिए जाति बदलना

श्योराज सिंह बेचैन की कहानी 'होनहार बच्चे' में पंडित सदानंद तिवारी अपनी बेटी 'पुनीता' को फर्जी अनुसूचित जाति के प्रमाण पत्र के आधार पर प्रवक्ता की नौकरी दिलाना चाहते हैं। पंडित सदानंद तिवारी हिन्दी विभाग में प्रोफेसर हैं। उनके अनुसार- कॉलेज, विश्वविद्यालयों की तो वहाँ हमने दो फीसदी भी एस. सी., एस. टी. को नहीं आने दिया है। खुद उन्हीं में मैरिट न होने का मनोवैज्ञानिक हीनता का रोग लगा दिया है हमने।

— पिता जी आरक्षण बचा भी कहाँ है?

— अरे, तुम क्यों फिक्र करती हो तुम्हारे लिए तो आरक्षण भी है, खुले क्षेत्र भी हैं, निजी क्षेत्र भी और सच्ची आजादी भी? (भरोसे की बहन श्योराज सिंह बेचैन -पृष्ठ संख्या- ४५)

पुनीता साक्षात्कार के लिए बुलाई जाती है। उसका जाति प्रमाण पत्र देखकर राष्ट्रीय एस.सी.एस.टी. कमीशन के सदस्य पूछते हैं-

— आपके हाई स्कूल प्रमाण पत्र में आपके पिता का नाम तिवारी है?

— क्या तिवारी हरिजन होते हैं?

— पुनीता जवाब देती हुई कहती है-

— जी,

कैसी बातें करते हैं आप?

— मैं कुलीन ब्राह्मण कन्या हूँ।

— मेरा किसी हरिजन-गिरिजन से क्या वास्ता?

— तो आप ब्राह्मण हैं?

जी।

तो आपके पास यह एस. सी. जाति का प्रमाण पत्र?

पंडित सदानंद तिवारी अपनी बेटी पुनीता के जवाब देने से पहले कहते हैं—

ये ब्राह्मण कुल में जन्मी...

जरूर हैं,

परन्तु इन्होंने गाँधी जी की अंतिम इच्छा पूरी करने के लिए एक हरिजन युवक से शादी कर ली है' (भरोसे की बहन श्योराज सिंह बेचैन - पृष्ठ संख्या - ४९)

१०-जाति से संबन्धित काम को लेकर विद्रोह-

जागरूकता किसी समाज के विकास का मूल है। अतः जिन्हें छोटा समझा जाता है वे भी अब शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। अपना अधिकार प्राप्त कर रहे हैं। सुशीला टाकभौरे की कहानी 'छौआ माँ' में 'तुलसा' अपनी 'छौआ माँ' को मैला ढोने के काम के प्रति जागृत करती है-

- अपनो कैसे गाँव?

— गाँव का काम करने के लिए अपनों गाँव है और किस बात के लिए अपनों गाँव?

— चुपचाप काम करते रहो...

— सबसे डरते रहो...

— सबका कहा, बुरा भला सुनते रहो,

— गाली-गलौच खाते रहों...

— सबका दिलदर उठाते रहो तो अच्छा है, नहीं तो कौन पूछे अपन को ?

— मैं नहीं करूँ गाँव का काम,

— न मेरे मोड़ा मोड़ी करेंगे।

— हमें नहीं अच्छो लगे ये सब गंदो काम....

— अपमान भरी इस नरक की जिंदगी से बाहर निकलो,

— इंसान बनकर जीना सीखो... (संघर्ष सुशीला टाकभौरे - पृष्ठ संख्या - ७२)

भारतीय संविधान में मनुष्य के मौलिक अधिकार व सामाजिक न्याय की अवधारणा के बावजूद अन्याय जस का तस व्याप्त है। - मुझे (यह बताने का) लिखित निर्देश मिला है कि एक विधेयक मानसून सत्र में संसद में पेश किया जाएगा, जिसमें पूरे मामले को निपटाया जाएगा। उन्होंने न्यायमूर्ति कपाड़िया, न्यायमूर्ति ए. के. पटनायक और न्यायमूर्ति स्वतंत्र कुमार की पीठ से कहा, 'हम इसके लिए (सिर पर मैला ढोने की प्रथा खत्म करने के लिए) कटिबद्ध हैं। मानसून सत्र तक इंतजार कीजिए। (दैनिक ट्रिब्यून- समाचार पत्र पृष्ठ संख्या - ९)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि २१ वीं सदी का भारत आज भी आदिम युग में ही बसता है। जहां इंसानों को इंसान समझना पाप है।

□

— सहायक-आचार्य

एस.आइ.ई.एस.कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
मुंबई

प्रा. दिनेश पाठक

भारतीय लोकतंत्र और मुक्तिबोध का काव्य

साहित्य अपने सामाजिक स्थितियों की उपज होता है। कोई भी साहित्य जिस समाज में रचा जाता है वह समाज उसके वैचारिक पक्ष को प्रभावित करता है। बाद में यह रचा हुआ साहित्य अपने समाज को प्रभावित करता है। एक सच्चा साहित्य इन दोनों प्रक्रियाओं को एक साथ लेकर चलता है। जनकवि और जनवादी साहित्य का विकास इसी सामाजिक प्रक्रिया के तहत होता है। ऐसे में मुक्तिबोध की कविताओं को भारतीय लोकतंत्र के विकास प्रक्रिया में रखकर देखना समीचीन है। मुक्तिबोध का रचनाकाल ई. १९३८ से प्रारंभ होकर ई. १९६४ तक है। यही समय भारतीय लोकतंत्र के जड़ पकड़ने व प्रारंभिक विकास का भी है। ऐसे में यह और भी महत्वपूर्ण हो उठता है कि कवि भारतीय लोकतंत्र से कैसे प्रभावित हो रहा था और उसके ये अनुभव कविता में कैसे उतर रहे थे, साथ ही साथ वे लोकतंत्र को लेकर अन्य किन दिशाओं व रूपों में सोच रहे थे? या उनका लोकतंत्र संबंधी चिंतन किन बिंदुओं पर परंपरावादी भारतीय लोकतांत्रिक छवि से अलग था? यहाँ यह भी समझना समीचीन होगा कि वे कौन सी राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय शक्तियाँ व परिस्थितियाँ थीं जिनसे भारतीय लोकतंत्र प्रभावित हो रहा था और उसके प्रति मुक्तिबोध के मानस में कौन-सी प्रतिक्रियाएँ उठ रही थीं और जो बाद में उनके कविताओं में रचनाकार ले रही थीं।

मुक्तिबोध के चिंतन में एक बड़ा मोड़ ई. १९४२ में आता है, जब वे नेमिचंद जैन के सीधे संपर्क में आते हैं। यहीं से उनका वैचारिक चिंतन मार्क्सवाद के प्रति आकर्षित होता है। बाद में वे एक लंबे वैचारिक द्वन्द्व के बाद मार्क्सवादी चिंतन परंपरा को अपने जीवन में एक अनिवार्य व स्थायी तत्व के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। जीवन जगत व उनके बीच के संबंधों को वे आजन्म फिर इसी दृष्टिकोण से देखते रहे और इसी समझ को व्यापक रूप से स्वीकार करने की समझ वे अपनी कविताओं के माध्यम से अपने पाठकों को देते रहे।

मार्क्सवादी दर्शन से उसका समाजवादी चिंतन मुक्तिबोध की जीवनदृष्टि बन गई और कालांतर में उन्होंने इसी चिंतन के आधार पर भारतीय लोकतंत्र को भी देखने व समझने व उसके तल तक जाकर उसका विश्लेषण करने की कोशिश की। 'अंतरात्मा और पक्षधरता' शीर्षक से अपने एक लेख में मुक्तिबोध लिखते हैं- "समाजवाद और जनता ही जनसाधारण की मुक्ति का राजपथ है

और इसीलिए उसकी मूल आत्मा जनतांत्रिक है। अपने इसी आलेख में मुक्तिबोध जनसाधारण के स्वरूप को भी स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं- ‘कैसे जनसाधारण? वे कि जिन्होंने शोषण और उत्पीड़न की जंजीरों को अपने संगठित कार्यों द्वारा तोड़ दिया है। समाज उनकी आर्थिक और पारिवारिक स्थिति की सुरक्षा की गारंटी लेता है, उनके बाल-बच्चों की शिक्षा तथा चिकित्सा और चारित्रिक गुणों के उत्कर्ष के कार्य सिद्ध करता है और बढ़ते हुए सामूहिक उत्पादन की प्रणाली के आधार पर उनके जीवन स्तर को क्रमशः विकसित करता जाता है। मेरे जैसे कोटिशः अकिंचनों और आरक्षित जीवन वालों की मुक्ति का रास्ता व समाजवाद की मूल आत्मा जनतांत्रिक है।’ इस तरह एक बात पूरी तरह स्पष्ट है कि मुक्तिबोध समाजवादी लोकतंत्र में आस्था रखते थे। पूंजी केंद्रित लोकतंत्र से उनकी आशाएँ बाद के दिनों में लगभग समाप्त हो चुकी थी। ‘पूंजीवादी समाज के प्रति’ कविता में उनकी इस दृष्टि को देखा जा सकता है-

तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ

तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।

पूंजीवादी लोकतांत्रिक समाज के संपूर्ण वैभव, बुद्धि व उसकी भोगवादी संस्कृति को मुक्तिबोध खोखली, निरुपयोगी व रिक्त मानते हुए उसके ध्वंस व नाश की बात करते हैं। मुक्तिबोध की स्पष्ट मान्यता है कि अपने प्रगति व ऐश्वर्य के सारे उपकरणों से लैस पूंजीवादी व्यवस्था मनुष्य विरोधी है क्योंकि वह मनुष्य मात्र के समानता व विकास में सत्य को व्यावहारिक रूप से स्वीकार नहीं करती। अंग्रेजी राज में पूंजीवादी लूट का जो भयंकर सिलसिला द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान शुरू हुआ था वह स्वतंत्रता के बाद भी बदस्तूर चलता रहा। समाज व उसके उत्पादन के साधनों पर बर्जुआ शक्ति का अधिकार पहले की तरह ही बना रहा। १७ फरवरी, १९४८ को प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने यह ऐलान कर दिया कि आर्थिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होगा। जहाँ तक संभव होगा, मौजूदा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाएगा। इस संपर्क में चंद्रकांत देवताले लिखते हैं- “समाजवाद का सपना मुट्ठी भर सत्ताधारी राजनेताओं, उनके पूंजीपति एजेंटों और उच्चवर्गीय अधिकारियों की बपौती मात्र बनकर रह गया।” १ सत्ता की राह पाकर व्यवस्था ज्यादा भ्रष्ट और जनशोषक बन गयी। राजनीतिक चेतना से कटी हुई जनता को ढोर समझ कर मनचाहे रूप से उसका शोषण किया गया-शब्दों का अर्थ ‘जब’ कविता में मुक्तिबोध इस स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं-

जनता को ढोर समझ/ढोरों को पीठ भरे

घावों में चोंच मार/रक्त भोज मांस भोज

करते हुए गर्दन मटकाते दर्प भर कौओं सा/भूख अस्थि पंजर रोष

नित्य मार खाती सी/रँभाती हुई अकुलाती दर्द भरी

दीन मलिन गौओं सा/शब्दों का अर्थ जब

इस तरह जनता के साथ होनेवाले शोषण का एक शब्दचित्र इस कविता में देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि यदि जनतंत्र जनता का जनता के लिए व जनता द्वारा शासित व्यवस्था सही मायने में है तो फिर यह कौन सी जनतांत्रिक व्यवस्था थी जहाँ जनता को ढोर समझकर उसकी पीठ को घावों से भरा जा रहा था और उन घावों में से मांस और रक्त को नोच नोचकर लोकतंत्र के नाम पर भोज भक्षण का मजा लिया जा रहा था। कवि मुक्तिबोध इस स्थिति को प्रत्यक्षतः देख और अनुभव कर रहे थे। वे जनता की अकुलाहट व बेचैनी को समझ रहे थे और उनके अंदर का कवि इन स्थितियों के विरुद्ध आक्रोश व तड़प से भरा जा रहा था। इस स्थिति का आकलन करते हुए चंद्रकांत देवताले लिखते हैं- “प्रजातंत्र में जनता को निगरानी रखनी होती है। पर वह जन-जीवन में अपट्ट लोगों का समय ही रहा। अशिक्षा, अज्ञान और पूँजिपतियों, जमींदारों और नौकरशाहों के चक्र से वह विवेक दृष्टि द्वारा ही सावधान हो सकती थी। जनता में आकांक्षा और धाराएँ अवश्य उपजी पर चेतना में कोई बदलाव नहीं आया।”^३ ऐसे में यह समझा जा सकता है कि भारतीय लोकतंत्र सही दिशा में नहीं जा रहा था, क्योंकि जनता में अभी उस राजनीतिक चेतना का विकास नहीं हो सका था जिससे वह लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा कर सके। दूसरा, एक बिचौलिया पैदा हो चुका था जो जनता में पिछड़ेपन से फायदा उठाने की कला में समय बीतने के साथ-ही-साथ ज्यादा पारंगत हो चुका था। यह बिचौलिया वर्ग ज्यादातर उन राजनीतिक लफंगों का था जो अपना हित साधने के लिए हर प्रकार का समझौता व हर प्रकार की दलाली करने के लिए तैयार था। इसी वर्ग के चरित्र को रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं-

सत्ता के परब्रह्म/ ईश्वर के आस-पास

सांस्कृतिक लहंगों में/ लफंगों के लाल-रास

खुश होकर तालियाँ/ देते हुए गोलमटोल

बिके हुए मूर्खों के/ होंठों पर छीन रास/ शब्दों के अर्थ जब

मुक्तिबोध भारतीय लोकतंत्र में उभर रही नकारात्मक प्रवृत्तियों के सत्य से अच्छी तरह परिचित हो रहे थे, उनका अनुभव लोक और भी ज्यादा संपन्न हो रहा था। कवि का प्रौढ़ होता चिंतन और व्यापक होता हुआ अनुभव उसकी समझ को और भी ज्यादा गंभीर व जनोन्मुख बनाता है। लोकतंत्र और जनता के प्रति मुक्तिबोध की कविता ज्यादा जागरूक व जिम्मेदार होती चली जाती है। जनता के भोलेपन व राजनीतिज्ञों के काइयाँपन को उजागर करते हुए कवि लिखता है-

जनता की दुःखजनित/ आस्था का स्वार्थग्रस्त

दुरुपयोग होता है/ जन मन की सृजनशील प्रतिभा का

अपार निर्लज्ज और निःशंक भोग होता है

मुक्तिबोध जनता की लाचारी व उससे उपजे दुःख को बखूबी जानते थे, उसकी आस्था के

दुरुपयोग से भी परिचित थे और नेताओं व सत्ताधीशों की निर्लज्जता से भी परिचित थे। वे सत्ता के निःशंक भोग का लज्जास्पद तमाशा देख रहे थे और प्रतिरोध के रूप में पूरी शक्ति के साथ वे इन कुप्रवृत्तियों के खिलाफ लिख रहे थे। मुक्तिबोध ने इस जनप्रतिबद्धता को ही साहित्य का हेतु माना और आजन्म इसी सिद्धांत पर संघर्ष करते हुए सृजनरत रहे। 'समाज और साहित्य' शीर्षक से लिखे गए निबंध में मुक्तिबोध लिखते हैं- "साहित्य का अध्ययन एक तरह से मानवसत्ता का अध्ययन है, अतएव जो लोग केवल उपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में ही अपना इतिकर्तव्यता समझते हैं, वे भी एकपक्षीय अतिरेक करते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यात्मक विवेचना की संपूर्ण एकात्मता रहे।"³ मुक्तिबोध के चिंतन से ही उनके कविगत सरोकार स्पष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः इसे केवल कविगत सरोकार ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत सरोकार मानना चाहिए क्योंकि मूलतः ये गुण मुक्तिबोध के अपने व्यक्तित्व के गुण थे, जिस पर उनका कवि व्यक्तित्व कालांतर में खड़ा हुआ। वस्तुतः मुक्तिबोध का निरंतर जागृत मस्तिष्क एक विवेक व तर्क के आधार पर जवान होते भारतीय लोकतंत्र के चरित्र को पहचानने की कोशिश कर रहा था और इस क्रम में वे पाते हैं कि भारतीय राजनीति निरंतर बुद्धिहीनता के दौर से गुजर रही है और ज्ञान संवेदनाहीन हो चुका है। भारतीय राजनीति अहंकार प्रदर्शन का अखाड़ा बन चुकी है इस अखाड़े में विवेक, तर्क, संवेदना के लिए कोई खास जगह नहीं बची थी। चारों तरफ प्रजातंत्र के नाम पर एक भयंकर भीड़तंत्र फैलता जा रहा था। इस भीड़तंत्र के केंद्र में अहंकार और सत्ता के मद से उपजा वर्चस्व का नशा था जो स्वकेंद्रित जीवन के लक्ष्य से परिचालित था। भारतीय राजनीति व वर्चस्ववादी समाज में इसी रूप को केंद्र में रखते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं-

अनुभव विवेकहीन/ ज्ञान संवेदनहीन

अंधकार अंबर में/ जीवंत पीड़ा हीन कठिन बुद्धि तर्कों की

बिजलियाँ चमकती हैं, नाचती असियों सी/ अहंकार तृष्टि के प्रसाधन

युक्ति, रिक्त, सूत्रवाद, आत्म-आशंसी/ गड़गड़ाते दिशाओं में

अहंकार तृष्टि के नशे में नित/ अहंकार तृष्टि के नशे में नित

तर्कों का चक्रव्यूह जाल बुना जाता है।

दुखद व त्रासदीपूर्ण है कि अहंकार व वर्चस्व का दौर तथा तर्कों के चक्रव्यूह में भोली-भाली जनता को फंसाये रखने का यह क्रम भारतीय प्रजातंत्र में आज भी जारी है, केवल जारी ही नहीं है बल्कि और भी घना हो गया है। शोषण के सभी रूप भारतीय प्रजातंत्र में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से और अधिक कसावदार हुए हैं। आम आदमी की गर्दन पर शोषण व वर्चस्व की पकड़ और भी मजबूत हुई है। मुक्तिबोध भारतीय लोकतंत्र में सत्ता व पूँजी के बढ़ते हुए वर्चस्व को लेकर चिंतित थे क्योंकि वे इस तथ्य से परिचित थे कि सत्ता व पूँजी का बढ़ता हुआ वर्चस्व स्वस्थ लोकतंत्र के समीचीन

लिए घातक सिद्ध होता है। खासकर उन लोकतंत्रों के लिए जो एशिया और अफ्रिका में उपनिवेशवादी वर्चस्व से मुक्त हुए गरीब लोकतंत्र हैं। ऐसे लोकतंत्र में सत्ता का वर्चस्व और पूँजी की धमक लोकतांत्रिक मूल्यों को दबाकर लोकतांत्रिक आजादी व विवेकपूर्ण जीवन को नष्ट कर देती है। इन दोनों का वर्चस्व जितना अधिक बढ़ता जाता है लोकतांत्रिक व्यवस्था उतना अधिक खतरे में पड़ती जाती है। यहाँ तक कि लोकतंत्र का चौथा स्तंभ समझा जानेवाला मीडिया भी या तो बिक जाता है या फिर गुलाम बना लिया जाता है। इसी सत्य को रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं —

— सब चुप साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक

भव्याकार भवनों के विवरों में छिप गए

समाचार पत्रों के पतियों के मुख स्थूल

गढ़े जाते संवाद/गढ़ी जाती समीक्षा

इस प्रकार पूँजी व सत्ता का बढ़ता हुआ वर्चस्व लोकतांत्रिक हितों के लिए मारक सिद्ध होगा इस तथ्य से मुक्तिबोध न केवल परिचित थे बल्कि वे इस सत्य को पूरे साहस के साथ अपनी रचनाओं में रखते भी हैं। मुक्तिबोध की सुप्रसिद्ध रचना 'अंधेरे में' में सत्ता और पूँजी के इस वर्चस्ववादी खेल को और भी खुलकर, गहराई में जाकर समझाया गया है। मृत्युदल की शोभायात्रा असल में तथाकथित भारतीय लोकतंत्र की वर्चस्ववादी शक्तियों की शोभा यात्रा है। इस शोभायात्रा में सत्ता व समाज को संचालित करनेवाली शक्तियों में प्रतिनिधि या ठेकेदार मौजूद हैं। नेता हैं, मंत्री हैं, अफसर हैं, धन्ना सेठ साहूकार हैं और तो और तथाकथित पत्रकार, लेखक, कवि व समीक्षक भी मौजूद हैं, सेना के कर्नल-जनरल के साथ साथ डोमाजी उस्ताद भी है। इस शोभायात्रा के रूपक को समझना आवश्यक है। असल में ये मृत्युदल की शोभायात्रा नहीं है बल्कि यह भारतीय जनतंत्र की यात्रा है जिसे नेता, मंत्री अफसर सेठ साहूकार व उनके चमचे 'खाओ-खिलाओ' के सिद्धांत पर मिलजुलकर चला रहे हैं। इनकी मदद करने के लिए बुद्धिजीवियों (बिके हुए) की एक पूरी फौज खड़ी है। और जो इस वर्चस्ववादी व्यवस्था के आड़े आये उसे ठिकाने लगाने के लिए जनता में भय पैदा करने व बनाये रखने के लिए सेना और पुलिस की फौज खड़ी है। और यदि फिर भी बात न बने तो विरोधी शक्तियों को ठिकाने लगाने के लिए डोमाजी उस्ताद भी मौजूद हैं। इस तरह से लोकतंत्र के नाम पर माफियातंत्र देश में चलाया जा रहा है जिसे जनता अपने भोलेपन, स्वार्थपरता या भय के कारण या तो समझती नहीं या फिर समझना नहीं चाहती। मुक्तिबोध भारतीय लोकतंत्र की इस दुर्दशा के लिए हमें भी बराबर का जिम्मेदार मानते हैं। हमारी स्वार्थी प्रवृत्ति ने व लोकतंत्र के प्रति गैरजिम्मेदारी पूर्ण व्यवहार ने भी भारतीय लोकतंत्र को और ज्यादा खोखला बनाया है। मुक्तिबोध हमें अर्थात् मध्यमवर्ग की स्वार्थी व गैरजिम्मेदाराना प्रवृत्ति पर चोट करते हुए कहते हैं —

अब तक क्या किया/जीवन क्या जिया।।

लोकहित पिता को घर से निकाल दिया
जन मन करुणासी माँ को हकाल दिया।
स्वार्थों के टरियर कुत्तों को पाल लिया,
भावना के कर्तव्य... त्याग दिये,
हृदय में गंतव्य मार डाले।/ बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया
तर्कों के हाथ उखाड़ दिये /जम गए, जाम हुए, फँस गये
अपने ही कीचड़ में धंस गये।।
विवेक बघार डाला/ स्वार्थों के तेल में /आदर्श खा गए।
अब तक क्या किया/ जीवन क्या जिया
ज्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश अरे जीवित रह गये तुम

इस तरह मुक्तिबोध वर्तमान भारतीय लोकतंत्र की दुर्दशा के लिए वर्चस्ववादी सत्ताधीशों व पूँजीपतियों के साथ ही साथ स्वार्थों व आत्मकेंद्रित मध्यवर्ग को भी उतना ही जिम्मेदार मानते हैं, क्योंकि इस विरोध सक्षम वर्ग ने जान बूझकर अपने स्वार्थों के कारण नेताओं व पूँजीपतियों की चालबाजियों का विरोध नहीं किया और देश को लूटने और बरबाद होने में मौन सहायक हुआ। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि यथास्थिति को अंतिम सत्य मानकर घुटने टेक देने की बात करता है बल्कि वह अंतिम सांस तक वर्चस्ववादी शक्तियों के विरुद्ध लड़ने और सफलता प्राप्त करने के लिए आम जनता को ललकारता है क्योंकि लोकतंत्र के अभ्युदय के सारी संभावनाएँ कवि इसी आम जनता में देखता है और उसे आम जनता के आत्मिक गुणों पर पूरा विश्वास है। कवि जानता है कि भेड़चाल चलने की अभ्यस्त हो चुकी जनता एक दिन स्वयं अपनी मुक्ति के साधन को ढूँढेगी और अपने आत्मा के गुणों के प्रकास में मानवतावादी कल्याणकारी प्रजातंत्र के रास्ते को गढेगी चाहे इसके लिए उसे बड़े से बड़ा मूल्य क्यों न चुकना पड़े। चे गुएवारा का कथन है, “एक क्रांतिकारी चेतनावाले मनुष्य की नियति एक साथ बेहद गौरवशाली तथा अतिशय यंत्रणादायिनी होती है।” इस कथन को सत्य बनाने का आह्वान भारतीय लोकतंत्र के संदर्भ में मुक्तिबोध की कविताएँ करते हुए भारतीय जनता का आह्वान करती हैं। संभवत इसीलिए मुक्तिबोध लिखते हैं-

कविता में कहने की आदत नहीं पर कह दूँ/ वर्तमान समाज चल नहीं सकता।

पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी छल नहीं सकता मुक्ति के मन को जन को।’

संदर्भ सूची :

१. मुक्तिबोध : कविता और जीवन विवेक-चंद्रकांत देवताले, पृ. ३९
२. मुक्तिबोध : कविता और जीवन विवेक-चंद्रकांत देवताले, पृ. ३९
३. नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. ११२
४. सोसलिज्म एंड मैन-चे गुएवारा, पृ. १३

□

— अध्यक्ष हिंदी विभाग
एस.आइ.ई.एस. महाविद्यालय
सायन(प.), मुंबई ४०००२२

आशा गुप्ता

कितनी खूबसूरत हो जाए ये दुनिया अगर हम बच्चों की तरह संवाद करना सीख जाएँ

बच्चों की दुनिया भी अनूठी होती है। विशेष रूप से नन्हें शिशुओं की। घर में एक नन्हा मेहमान आया है। अभी कुछ ही महीनों का तो हुआ है। एकदम मासूम और सीधासादा। बहुत आकर्षित करता है। सब उसके पास ही बैठे रहना चाहते हैं हर समय। उसकी मासूमियत में जैसे डूब जाना चाहते हैं। उस जैसे ही बन जाना चाहते हैं ताकि उसको हमें स्वीकार करने में, हमारे पास आने में कोई दिक्कत न हो। इधर-उधर जाते भी हैं तो जैसे 'उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै' की तरह बार-बार उसके ही पास लौटकर आ जाते हैं। वह भी कहता है कि मेरे पास बैठो। मुझसे बातें करो। मेरा ये करो। मेरा वो करो। मुझे कुछ गाकर सुनाओ। थोड़ा नाचकर दिखाओ। तोतली ज़बान में कुछ बोलकर बताओ। मेरी आँखों में झाँक कर देखो। और भी न जाने क्या-क्या कहता रहता है। अपने पास ही तो बिठाए रखता है अधिकांश समय। सारे दिन पूरे परिवार ही को तो व्यस्त रखता है ये नन्हा सा जीव। आप कहेंगे कुछ महीने का बच्चा कैसे बोल सकता है? जब वो बोल नहीं सकता तो कोई कैसे कहता है अपने मन की बात? आप ठीक कह रहे हैं।

वह बोलना नहीं जानता। वह हिंदी अंग्रेज़ी या अन्य कोई भाषा भी नहीं जानता। मैं कई भाषाएँ जानती हूँ लेकिन इनमें से वो कोई भाषा नहीं समझता। इसके बावजूद हम दोनों खूब बातें करते हैं। दिनभर ढेर सारी बातें करते हैं। हमारी अपनी विशेष भाषा है। रात को जब वह अपनी प्यारी माँ के साथ सोने के लिए जाता है तो हमारे शुभ रात्रि या रूसी में 'स्पाकोयनाय नोच्च्यी' कहने पर ऐसे मुस्कराता है जैसे वह सभी भाषाएँ समझता है। जब तक आँखों से ओझल नहीं हो जाता एक टक देखता ही रहता है। रात भर के लिए बिछुड़ने की पीड़ा जैसे उसकी आँखों से प्रकट हो उठती है। हाँ, सचमुच वह सब बखूबी समझता है। यह वह भाषा है जिसको पूरी दुनिया के वो लोग जो एक दूसरे से नितांत अपरिचित हैं और एक दूसरे की भाषा बिल्कुल नहीं जानते, भी समझ सकते हैं। भाषा क्या है? संदेशों का आदान-प्रदान ही तो है। सुखद संदेश मिलता है तो प्रसन्नता होती है। दुखद संदेश असह्य होता है। मन को अवसाद से भर देता है। हमारा नन्हा मेहमान जब मुस्कराता है तो हम सबके मनों में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। सब कुछ भूल कर उसकी निश्छल मुस्कराहट में खो जाते

हैं। जब वह किलकारियाँ मारता है तो उसके तो कहने ही क्या? जी चाहता है उसके साथ मिलकर हम भी शोर मचाएँ।

लेकिन जब वो रो पड़ता है तो हम आँसू न बहाते हुए भी अंदर से भीग से जाते हैं। लेकिन जब वह कुछ देर के लिए ही सही चुप हो जाता है, मुस्कराता नहीं है, किलकारियाँ नहीं मारता है, हाथ-पैर नहीं चलाता है तो बाकी सबकी मुस्कराहटें गायब हो जाती हैं। सबके अंदर कुछ खालीपन सा भर जाता है। यह संवाद ही तो है। उसका रोना, हँसना, एकटक देखना और अन्य सभी क्रियाएँ संवाद ही तो है। अपूर्ण नहीं पूर्ण संवाद। संवाद है तो माध्यम भी होगा और भाषा भी होगी। भाषा भी है और सदियों-सहस्राब्दियों से भी पुरानी भाषा है। मनुष्य ही नहीं पूरी प्रकृति की भाषा है। कोई और न समझे तो क्या किया जाए? कबीर जानते थे इस भाषा को। तभी तो उन्होंने हर भाषा, हर विषय के ऊपर इसे तरजीह दी। इसी को प्रमुख माना। ढाई अक्षर प्रेम का उनके लिए दुनिया की हर भाषा व दुनिया के हर ज्ञान से ऊपर रहा। इस भाषा के लिए किसी लिपि की, किसी ज्ञान की जरूरत ही नहीं। न कागज़ — कलम की ही।

ढाई अक्षर प्रेम की यह भाषा ही दुनिया का सबसे बड़ा ज्ञान है। जो इस भाषा को जानता है वही पंडित है, ज्ञानवान है, संवादकुशल है। यही ढाई अक्षर हर पूजा-पाठ, हर इबादत से बढ़कर है। हर धर्म, हर भाषा बोलने वाली माँ यह भाषा जानती है। हम सब भी इस भाषा को जानें-समझें, इसी को व्यवहार में लाएँ। न जानें कितने लोग इस प्रतीक्षा में हैं कि कोई हमारी भाषा को समझें और उसका उत्तर दे। बोलने के लिए किसी भाषा या ज़बान की नहीं, भावों की ज़रूरत होती है और उसे समझने के लिए भी किसी भाषा या कानों की नहीं, मन की संवेदनशीलता की ज़रूरत होती है। यह तभी संभव है जब हम स्वयं सचमुच एक नन्हें शिशु की तरह संवाद करना सीख जाएँ और हर बच्चा हमें पसंद करने लग जाए। यदि बच्चे ही हमसे संवाद नहीं कर सकते, हमें पसंद नहीं कर सकते तो हमारा सारा ज्ञान, हमारी सारी विद्वता निरर्थक है। ये दुनिया सचमुच खूबसूरत बनानी है तो हमें नन्हें शिशुओं की तरह संवाद करना सीख लेना चाहिए।

□

**-ए डी १०६-सी, पीतमपुरा,
दिल्ली-११००३४
फोन ०९३१०१७२३२३**

कैप्टन डॉ. मोहसिन खान

प्रगतिवादी समीक्षा और साहित्य के मानदण्ड

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी समीक्षा का निजी महत्त्व एवं वैशिष्ट्य है। इस समीक्षा धारा के उद्भव काल से अब तक के विकास में कई दृष्टियाँ, मत, आयामों का समय-समय पर योग रहा जिसके कारण यह परिवर्द्धित होते हुए आज विरल धारा से एक वेगवान नदी की भाँति हमारे समक्ष उपस्थित है। विभिन्न प्रगतिशील विचारकों ने अपने-अपने अभिमतों द्वारा प्रगतिवादी समीक्षा के सिद्धांतों का निरूपण करते हुए उसको व्यापक भावभूमि पर मण्डित करने का भरसक प्रयत्न किया है। यह समीक्षाधारा अपने जन्म शिवदानसिंह चौहान का लेख तथा प्रेमचंद्र जी के अध्यक्षीय भाषण से लेकर डॉ. रामविलास शर्मा की महत्त्वपूर्ण कृतियों तक फैली है। प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य के मूल्यांकन हेतु द्वन्द्ववादी, भौतिकवादी दृष्टि के साथ समाजशास्त्रीय दृष्टि भी रखती है, साथ ही साहित्य को हर स्तर पर समाज सापेक्ष रूप में ग्रहण कर उसे समाज के लिए उपयोगी साबित करती है। जैसा स्पष्ट है कि इस समीक्षाधारा में विभिन्न प्रगतिवादी समीक्षकों का योगदान रहा है जिसके कारण इसका विकास हो पाया। इन विभिन्न समीक्षकों की प्रगतिवादी समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के मूल्यांकन को लेकर निजी दृष्टि रही है तथा उसी के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करने का आग्रह रहा है।

काव्य की आत्मा, रस एवं साधारणीकरण

काव्य की आत्मा, रस एवं साधारणीकरण के संबंध में प्रगतिवादी समीक्षकों से डॉ. शर्मा का मत वैभिन्न नजर आता है, क्योंकि कुछ समीक्षक रस की परंपरात्मक अवधारणा को ग्रहण करते हैं और उसकी वस्तुवादिता को भी ग्रहण कर लेते हैं। यह उनका अंतर्विरोध है, साथ ही ये आचार्य शुक्ल की लोकमंगल से युक्त रस एवं साधारणीकरण वाली मान्यता का भी विरोध करते हैं। कुछ समीक्षक डॉ. शर्मा के मतों के साम्य में खड़े नजर आते हैं, परंतु इन सबके बीच डॉ. शर्मा की काव्यात्मा, रस एवं साधारणीकरण संबंधी मान्यता अत्यंत तर्क संगत एवं मार्क्सवादी मानदण्डों के अनुरूप वस्तुवादी व्याख्या है।

डॉ. शर्मा काव्य की आत्मा रस को स्वीकार नहीं करते हैं। वे इसके प्रबल विरोधी हैं, साहित्य

को सामाजिक धरातल पर स्वीकार करते हैं, इसलिए काव्य की आत्मा को सामाजिक धरातल पर ही प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं- “सामाजिक यथार्थ ही काव्य का प्राण तत्त्व है।” इस तरह किसी भी अलौकिकता को मिथ्या मानकर उसका खण्डन करते हैं, उसकी लौकिकता को ही महत्त्व देते हैं। अपनी काव्यात्मा संबंधी धारणा को प्रतिष्ठित करने हेतु रस संबंधी धारणा से ही टकराते हैं, अन्य मतों को वह वैसे भी काव्य की आत्मा नहीं स्वीकारते हैं। श्री चौहान डॉ. शर्मा के मतों के विरोधी नजर आते हैं, काव्य की आत्मा भारतीय काव्य चिंतन के रूप में रस को स्वीकार कर लेते हैं, जबकि वह मार्क्सवादी हैं, परंतु रस को मार्क्सवाद के अनुरूप बताकर उसका पोषण करने लगते हैं। उनका ऐसा करना मार्क्सवाद के विपरीत ही सिद्ध होता है। इसी क्रम में रांगेय राघव जी भी हैं, जो रस को मार्क्सवाद के विपरीत ही नहीं देखते और भारतीय चिंतन से समन्वित कर मार्क्सवाद और रस सिद्धांत का मेल कराते हैं। वे कहीं भारतीय रस सिद्धांत की आध्यात्मिकता को ग्रहण कर लेते हैं और कहीं मानवीयता पूर्ण रवैया रखकर भारतीय चिंतन के साथ हो जाते हैं। इस प्रकार श्री चौहान तथा रांगेय राघव जी के मत काव्यात्मा के संबंध में डॉ. शर्मा से विपरीत पड़ते हैं। चूंकि डॉ. शर्मा सही मार्क्सवादी हैं, वह प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन वस्तुवादी दृष्टिकोण से ही करते हैं, उनमें भाववादी तत्त्व कहीं नजर नहीं आते हैं, इस लिए उनकी काव्यात्मा संबंधी दृष्टि मार्क्सवादी मानदण्डों के अत्यधिक निकट नजर आती है।

काव्यात्मा के संबंध में मुक्तिबोध का मत डॉ. शर्मा से विलग तो नहीं, परंतु नवीन दृष्टि लेकर उपस्थित होता है। वे काव्य की आत्मा उदात्त मानव संबंध को मानते हैं और यह उदात्त संबंध सामाजिक-सांस्कृतिक परिष्करण के आविर्भूत रूप ही हैं। काव्यात्मा के संबंध में किसी एकांगिता को मान्यता नहीं देते, काव्य में ऐतिहासिक समाजशास्त्रीयता के साथ मनोविश्लेषणात्मक-सौंदर्यात्मकता को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि काव्यात्मा किसी एकांगिता से निर्मित न होकर विभिन्न अनुशासनों का संयोग है। फिर भी भाववादी, मनोवैज्ञानिक सहमतियों से असहमत हैं और उनका विरोध करते हैं। इस प्रकार का विरोध करके डॉ. शर्मा के मतों से सहमत से ही नजर आते हैं, परंतु काव्यात्मा को अपने जीवनानुभवों पर परखकर उसे विभिन्न अनुशासनों का एकत्व मानते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा रस के प्रति दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल की परंपरा से ग्रहण करते हैं। वे रस को लेकर पूर्णतः वस्तुवादी हैं, परंतु साहित्य में रस की अखण्डता और अलौकिकता का विरोध करते हैं। वे वस्तुवादी हैं, इसलिए भाववादियों का रस के परिप्रेक्ष्य में खंडन करते हैं। उनका मानना है कि साहित्यकार यदि आत्मा की अखंडता की बातें करता रहेगा, तो समाज के विकास में कभी सहायक नहीं हो सकेगा। उनका यह मत अत्यंत संतुलित और सामाजिक दृष्टिकोण से युक्त है, जो कि मार्क्स की सामाजिक उन्नति की मान्यता के निकट है। वे रस की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं, लेकिन लौकिक धरातल पर, उनकी मान्यता अनुभूति से ही है और वह अनुभूति लौकिक अनुभूति ही है, कोई लोकोत्तर आनंद नहीं। डॉ. शर्मा ने रस के पैमाने को भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा से अलग रूप में प्रतिष्ठा किया है। उन्हें रस में लिपटी आध्यात्मिकता, मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति गले नहीं उतरती। वे रस को मनुष्य के भावों के अनुरूप ही स्वीकार करते हैं। अतः कहा जा सकता

है कि डॉ. शर्मा रस को जनवादी दृष्टि से देखते हुए उसका जनवादी स्वरूप निश्चित करते हैं। इस प्रकार डॉ. शर्मा अपने मत से पूर्व के भारतीय रस सिद्धांतों तथा उसकी व्याख्या का पूर्णतः विरोध करके रस की अलौकिकता का खंडन करते हैं। डॉ. शर्मा का रस के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण उनका वस्तुवादी रूप दर्शाता है। यह बात स्वयं सिद्ध है कि आज साहित्य और समाज अत्यधिक परिवर्तित हो चुका है और जीवन जगत में जो संघर्ष मौजूद है, उसमें रस की ऐसी कोरी आध्यात्मिकता का कोई महत्त्व नहीं, जो कि समाज और साहित्य को कोई दिशा न दे सके। डॉ. शर्मा का इस दृष्टि से मत अत्यंत संतुलित और परिस्थिति सापेक्ष है और अपने साहित्य सिद्धांतों में मार्क्सवादी मान्यता के अनुरूप ही हैं।

साहित्य के मानदण्डों में रस को लेकर श्री चौहान और रांगेय राघव जी के मत डॉ. शर्मा की मान्यताओं के अनुरूप नहीं दिखाई पड़ते, जहाँ डॉ. शर्मा अपने पूर्व के मतों का खंडन करते हुए रस को लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं, वहीं श्री चौहान का मानना है कि रस मार्क्सवाद के अनुकूल ही है। उनका ऐसा मानना अनुचित ही प्रतीत होता है, जबकि मार्क्सवाद वस्तुवादी है और भारतीय रस सिद्धांत भाववादी है, अलौकिकता का समर्थन करता है। श्री चौहान रस को मार्क्सवाद को पोषित करने का मत देते हैं, जो अत्यंत तर्कहीन तथा लौकिक अनुभूति से परे है। चौहान जी की ऐसी मान्यता उनके भारतीय काव्य शास्त्र के प्रति मोह को दर्शाती है और वे रस को उसी से संबद्ध करके देखते हैं। इस प्रकार उन्हें भारतीय सिद्धांत स्वीकार्य है। वे शुक्ल जी के रस सिद्धांत की मान्यता से भी असहमत हैं। वे किसी ऐसे मत के आकांक्षी नहीं हैं, जिसमें किसी भी तरह की एकांगिता परिलक्षित हो और न ही भारतीय काव्यशास्त्र की वह उपेक्षा स्वीकार करते हैं। रांगेय राघव जी भी रस को मार्क्सवाद के विपरीत नहीं मानते हैं। रस को आनंदवादी मानते हैं, उनका ऐसा मानना उनका मार्क्सवादी होने पर शंका पैदा करता है, जबकि मार्क्सवाद वस्तुवादी है और उनका मत इसके विपरीत जाता दिखाई पड़ता है। रस के संबंध में अमृतराय जी का मत है कि रस को अध्यात्म से मुक्त नहीं किया जा सकता। उसे पूर्णतः शरीर नहीं बनाया जा सकता। उसके प्रति मनोवैज्ञानिक आग्रह रखते हैं, उनका ऐसा मत भी डॉ. शर्मा और मार्क्सवाद के विपरीत जाता दिखाई पड़ता है, क्योंकि रस को मनोवैज्ञानिक भूमि पर स्वीकार करके उसे दर्शन से जोड़कर और भी अधिक उलझा हुआ अनुभव किया जाएगा। इस प्रकार देखा जा सकता है कि शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव, अमृतराय रस की मनोवैज्ञानिक भूमि का आग्रह तो रखते हैं, साथ ही उनमें कहीं न कहीं भारतीय काव्यशास्त्र के प्रति मोह भी परिलक्षित होता है। वे कहीं न कहीं रस को लेकर मानवतावादी, समन्वयवादी तथा संशोधनवादी दिखाई पड़ते हैं। उनकी इस प्रकार की धारणाएँ उनकी समीक्षा के अंतर्विरोधों को स्वतः ही स्पष्ट और उजागर कर देती है। डॉ. शर्मा की दृष्टि में ये समीक्षक अनुचित से प्रतीत होते हैं और डॉ. शर्मा इनकी मार्क्सवादी दृष्टि पर संदेह उठाते हैं।

श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने रस को लेकर अधिक विचार नहीं किया है, परंतु वे रस को अलौकिक नहीं मानते हैं, उसकी आध्यात्मिकता का विरोध करते हैं और रस को काव्य की अंतिम कसौटी नहीं स्वीकार करते हैं। साहित्य को एक सामाजिक क्रिया के रूप में देखते हैं, इसलिए रस को पाठकों से समीचीन

संबंधित करके ही देखते हैं। इस प्रकार वे डॉ. शर्मा के मत के अत्यधिक निकट नजर आते हैं और उन्हें इन्हीं अर्थों में मार्क्सवादी कहा जाएगा। मुक्तिबोध काव्य में रस की सत्ता ही प्रमुख नहीं मानते, उसके साथ समाजशास्त्रीयता, सौंदर्य, मनोविश्लेषण आदि की एकात्मकता को भी स्वीकार करते हैं, परंतु वे अंतिम रूप से साहित्य को सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हुए उसे सामाजिक धरातल पर देखने के पक्षपाती हैं। मुक्तिबोध का चिंतन एकदम नवीन दृष्टि का है, वे हर स्तर पर जीवनानुभवों को ही लागू करते हैं। उनका रस-दृष्टिकोण डॉ. शर्मा से भिन्न मालूम पड़ता है। डॉ. नामवर सिंह भी रस की अलौकिकता का विरोध करते हैं और डॉ. नगेंद्र की रसवादी व्याख्या का खंडन करते हैं। अपने काव्य के प्रतिमानों में रस की सत्ता को एकदम नकार ही देते हैं। उनका कहना है कि कविता के नए प्रतिमानों का संबंध रस से नहीं है। रस को शुक्ल जी द्वारा समर्थित 'हृदय की अनुभूति' ही स्वीकार किया है और रस को काव्यास्वाद की ही प्रक्रिया माना है। वे रस को लेकर वस्तुवादी ही नजर आते हैं और रस को सामाजिकता के साथ देखते हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि डॉ. शर्मा के मत से श्री चौहान, रांगेय राघव और अमृतराय अपनी भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं, जो कि अतार्किक और प्रगतिवादी समीक्षा के मानदण्डों के विरुद्ध ठहराती हैं। प्रकाशचंद्र गुप्त, मुक्तिबोध, नामवरसिंह की रस को लेकर की गई व्याख्याएँ और उनके तर्क डॉ. शर्मा के मतों से कहीं न कहीं मेल खाते हैं और उन्हें इस संदर्भ में मार्क्सवादी माना जा सकता है।

डॉ. शर्मा साधारणीकरण के संबंध में भी वस्तुवादी दृष्टि रखते हैं, वे साधारणीकरण को इंद्रियजन्य तथा वस्तु सापेक्ष रूप में स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि सभी का साधारणीकरण एक जैसा नहीं हो सकता और पाठक की अनुभूति अलग-अलग होती है। साधारणीकरण के विषय में कहते हैं-“साधारणीकरण एक ऐसा मंत्र है, जिसमें शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्वप्रेम तक पहुंच जाता है।” डॉ. शर्मा का अपनी ही धारा के उन समीक्षकों से वैमत्य है, जो साधारणीकरण की भाववादी व्याख्या करते हैं। ऐसे समीक्षकों में श्री चौहान और रांगेय राघव हैं। श्री चौहान आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण की प्रक्रिया का विरोध करते हैं, उनका यह विरोध अपनी हिंदी की प्रगतिशील परंपरा का विरोध ही माना जाएगा। रांगेय राघव जी साधारणीकरण की प्रक्रिया में दर्शाते हैं कि सभी मनुष्यों पर विशेष परिस्थिति में एक-सा ही प्रभाव पड़ता है और साधारणीकरण काव्य का मानवीय मूल्यांकन है। ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम, घृणा आदि स्थायी भावों को सबमें एक-सा मानते हैं, जबकि डॉ. शर्मा का मानना है कि सभी मनुष्यों का साधारणीकरण एक जैसा नहीं हो सकता। यह मत डॉ. शर्मा का सही है कि सभी का साधारणीकरण एक-सा एक ही स्तर पर हो, आवश्यक नहीं है क्योंकि सभी की सामाजिक परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं और उन परिस्थितियों से संबद्ध होकर ही काव्यानुभूति अपना आकार ग्रहण करती है। इसलिए डॉ. शर्मा अपने मत से एकदम सही और संतुलित नजर आते हैं। श्री अमृतराय साधारणीकरण के लिए संवेदना पक्ष को अतिआवश्यक मानते हैं, संवेदनीयता को ही साधारणीकरण का प्राण मानते हैं, साधारणीकरण का उनका मत, आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण पर ही आधारित है। वे संवेदनीयता को सामूहिक भाव, लोकहृदय दोनों विरोधी वस्तुएँ नहीं, बल्कि पर्यायवाची ही मानते हैं। इस तरह

जनता के साथ उनके सामूहिक भावों के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करते हैं। अंततः साधारणीकरण को किसी लोकोत्तर भाव के रूप में नहीं ग्रहण करते हैं और ऐसी स्थिति में उसका विरोध ही करते हैं। इस तरह साधारणीकरण के मामले में वे डॉ. शर्मा के मत से अपना मत मिलाते हुए नजर आते हैं। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त भी साधारणीकरण को सामाजिकता के साथ ही जोड़कर देखते हैं।

अंततः निष्कर्षात्मक रूप से यह माना जा सकता है कि काव्यात्मा, रस और साधारणीकरण के संबंध में डॉ. शर्मा की दृष्टि अत्यंत संतुलित और तर्कपूर्ण है। अपनी मान्यताओं को वास्तव में मार्क्सवादी मानदण्डों के अनुरूप वस्तुवादी होकर प्रतिपादित करते हैं। उनमें काव्य की सामाजिकता के विरुद्ध कुछ भी विरोध लक्षित नहीं होता। सामाजिकता को काव्य की आत्मा मानते हैं, जबकि चौहान जी, रांगेय राघव जी रस को कहीं न कहीं ग्रहण करके उसे ही काव्यात्मा मानते हैं। रस के संबंध में डॉ. शर्मा पूर्णतः वस्तुवादी हैं और रांगेय राघव, श्री चौहान, अमृतराय आदि रस की मनोवैज्ञानिक भूमि का को प्रतिष्ठित करते हैं। डॉ. शर्मा अपने उपरोक्त विवेचन में प्रगतिवादी चिंतन के परिप्रेक्ष्य में काव्यात्मा, रस और साधारणीकरण के स्तर पर प्रगतिशील ही नजर आते हैं और अपने नवीन सिद्धांतों और व्याख्याओं के द्वारा और प्रगतिवादी समीक्षकों से तो ठीक हैं, प्रगतिवादी समीक्षकों के मध्य अत्यंत विशिष्ट और महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे पूर्णतः मार्क्सवाद की मान्यताओं को अपनाते हुए निरंतर प्रगतिशीलता को हर स्तर पर बनाए रखते हैं।

काव्य-प्रयोजन

काव्य अथवा साहित्य के प्रयोजन के विषय में लगभग सभी प्रगतिवादी समीक्षक एक मत नजर आते हैं। साहित्य की उद्देश्यता का संबंध सभी सामाजिकता से स्वीकार करते हैं और स्वस्थ, संतुलित साहित्य और समाज की स्थापना इनका लक्ष्य है। सभी समीक्षक उन अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर देना चाहते हैं, जिससे समाज और साहित्य हासशील हो रहा है।

डॉ. शर्मा का साहित्य-प्रयोजन समाज सापेक्ष है। वे साहित्य के वर्गवादी होने का जिम्मेदार समाज को ही मानते हैं और समाज से वर्गवाद समाप्त करके वर्गहीन साहित्य की रचना चाहते हैं। साहित्य को मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज निर्माण तथा सामाजिक उत्पीड़न की समाप्ति के लिए स्वीकार करते हैं। साहित्य में अश्लीलता, निराशावाद और प्रयोगवादी मान्यताओं का विरोध करते हैं। साहित्य में पूर्णतः लोकमंगल की कामना करते हैं और साम्राज्यवादी, सामंतवादी, पूँजीवादी तथा हासशील शक्तियों को समाप्त करना चाहते हैं अथवा उनके विरुद्ध विद्रोह करते हैं। वे साहित्य को उपयोगितावाद की दृष्टि से देखते हुए उसे मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का विकास कर उसे उन्नत बनाने की आकांक्षा से अनुप्राणित हैं। वे साहित्य के विषय पक्ष के उद्देश्य की ही चर्चा नहीं करते, बल्कि साहित्य की उद्देश्यता को और भी अधिक सार्थक बनाने हेतु अभिव्यक्ति पक्ष पर भी विचार करते हैं। वे उन प्रयोगवादियों के खिलाफ हैं, जो केवल कलावादी मूल्यों को प्रतिस्थापित करते हैं। वे साहित्य को जनवादी दृष्टि से अपनाते हैं, इसलिए उसके अभिव्यक्ति पक्ष की सादगी तथा आम जनता के बीच प्रसारित भाषा को उपयुक्त मानते हैं, जिससे साहित्य

जनसुलभता को प्राप्त कर सके। वे साहित्य के सभी अभिव्यक्ति पक्षों के प्रति सामाजिकता को केंद्र में रखकर देखते हैं, जिससे साहित्य का समाज में प्रसार हो सके और वह अपनी उद्देश्यता को प्राप्त कर सके।

डॉ. शर्मा की तरह श्री चौहान ने भी साहित्य का उद्देश्य मानवीय मुक्ति माना है। वे साहित्य के माध्यम से मानवीय स्वतंत्रता तथा मानवीय प्रतिष्ठा चाहते हैं। जो यह मानते हैं कि साहित्य केवल मनोरंजन प्रदान करता है, वे उसका विरोध करते हैं। साहित्य की उद्देश्यता जो कि सामाजिकता है, उस के लिए प्रचारात्मकता को भी स्वीकार कर लेते हैं। साहित्य के माध्यम से शोषण और अत्याचार को समाप्त करना चाहते हैं, इसलिए उनका लेखक से आग्रह है कि वह अपने लेखक से शोषकों पर आक्रमण करें। इस प्रकार श्री चौहान की साहित्य की उद्देश्यता की मान्यता डॉ. शर्मा के अनुसार ही है, किसी भी तरह से उनका वैमत्य दिखाई नहीं पड़ता है। अमृतराय भी साहित्य का उद्देश्य समाज सापेक्ष ही ग्रहण करते हैं। वे साहित्य का उद्देश्य पाठक पर प्रभाव डालना मानते हैं, क्योंकि पाठक को संघर्ष के लिए तैयार करना चाहते हैं। वे साहित्य को सामूहिक भावना से युक्त मानते हैं, इसलिए व्यक्तिवाद और साहित्य को मनोरंजन मानने का विरोध करते हैं। साहित्य के माध्यम से साम्राज्यवादी ताकतों का अंत कर देना चाहते हैं और वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। अमृतराय की यह मान्यता डॉ. शर्मा की मान्यता का पर्याय ही कही जाएगी, क्योंकि वह भी साहित्य के माध्यम से ऐसा ही मानते हैं। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध मानते हुए साहित्य को समाज के लिए ही स्वीकार करते हैं और व्यक्तिवादिता का विरोध करते हैं। रांगेय राघव और प्रकाशचंद्र गुप्त की मान्यताएँ भी उपरोक्त मान्यताओं से मेल खाती हैं। वे भी साहित्य का उद्देश्य सामाजिकता को मानते हुए मनुष्य का चहुँमुखी विकास ही स्वीकार करते हैं। मुक्तिबोध भी साहित्य में व्यक्तिवादी मूल्यों का खंडन करके साहित्य को सामाजिक मूल्यों की लोकमंगलकारी व कल्याणकारी दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं। साहित्य को मुक्ति-संघर्ष के रूप में देखते हैं। प्रयोगवाद और नयी कविता के प्रगति विरुद्ध लक्षणों का कड़ा विरोध करते हैं। साहित्य की सामाजिकता-सांस्कृतिकता को साहित्य का उद्देश्य भी स्वीकार करते हैं। साहित्य में जीवन निरपेक्षता का विरोध करते हैं। साहित्य में सामूहिक अनुभूतियों को स्वीकार कर कलावादी मूल्यों के विरुद्ध हो जाते हैं। वे साहित्य में समाज विरोधी कोरी आध्यात्मिकता के विरोधी हैं। वे साहित्य का अंतिम उद्देश्य मानव की शोषण से मुक्ति मानते हैं, चाहे वह मुक्ति राजनीति से हो या अज्ञान से। साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार और मानसिक परिष्कार मानते हैं। डॉ. नामवर सिंह भी मानते हैं कि साहित्य का उद्देश्य लोकमंगल करना है, उसे संघर्ष में विजय प्राप्ति के लिए मार्ग दिखाना है। वह भी साहित्य में व्यक्तिवादिता का विरोध करते हैं। साहित्य को जनता के लिए स्वीकार करते हैं, इसलिए उसकी मुक्ति का अस्त्र भी साहित्य को मानते हैं। अंततः निष्कर्षात्मक रूप से माना जा सकता है कि सभी प्रगतिवादी समीक्षक काव्य की साद्देश्यता को लेकर एक मत नजर आते हैं, परंतु डॉ. शर्मा का मत अत्यंत तर्कसंगत, व्यापक, गंभीर और वस्तुवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। वे हर संभव प्रयत्न कर काव्य अथवा साहित्य को सामाजिकता की भूमि पर देखते हैं। अपनी साहित्य संबंधी समीक्षा

में मार्क्सवादी मानदण्डों का संतुलित रूप से प्रयोग करते हैं। साहित्य की उद्देश्यता में प्रगतिशीलता को बनाए रखते हैं, कहीं पर भी मानवतावादी या संशोधनवादी नहीं हो पाते हैं।

काव्य : हेतु प्रेरणा

प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य के हेतु और प्रेरणा अपने परिवेश से उत्पन्न परिस्थितियों को मानती है, वह किसी अज्ञात देवी-शक्ति या असाधारण प्रतिभा या काम-चेतना को स्वीकार नहीं करती है। साहित्य की प्रेरणा समाज है और मानव संबंधों की अभिव्यक्ति है। डॉ. रांगेय राघव साहित्य की प्रेरणा और हेतु सामाजिक धरातल पर तो स्वीकार करते हैं, परंतु मुख्य रूप से समाज और सामाजिक परिस्थितियों को उत्तरदायी नहीं मानते। जैसा कि डॉ. शर्मा ने स्वीकार किया है कि भौतिक-परिवेश और समाज ही साहित्य की प्रेरणा है, परंतु रांगेय राघव जी का मानना है कि साहित्यकार पर आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के अतिरिक्त धार्मिक, दार्शनिक और अन्य परिस्थितियाँ भी प्रभाव डालती हैं और इसी से वह प्रेरणा ग्रहण कर साहित्य की रचना करता है। रांगेय राघव जी का यह मत एक साधारण साहित्यकार से संबंधित लगता है, वह प्रगतिवादी साहित्यकार के लिए उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि जो साहित्यकार प्रगतिवादी दृष्टि से संपन्न होगा, वह अन्य परिस्थितियों से कम और सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होगा और उस पर दूसरे प्रभाव न्यून ही होंगे। इस तरह रांगेय राघव जी का मत एक सामान्य साहित्यकार के व्यक्तित्व के लिए है, वह प्रगतिवादी कलाकार के व्यक्तित्व से मेल नहीं खाता। जबकि डॉ. शर्मा का मत प्रगतिवादी कलाकार के व्यक्तित्व से बराबर मेल खाता है और जो कहते हैं कि भौतिक-सामाजिक और परिवेश से प्रेरणा ग्रहण की जाती है, एकदम तर्कसंगत है। प्रेरणा के संबंध में आम राय नहीं बनाते, बल्कि प्रगतिवादी दायरे में रहकर साहित्य प्रेरणा की बात करते हैं।

रांगेय राघव जी प्रतिभा को साहित्य में प्रमुख स्थान देते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य में प्रतिभा की ही आवश्यकता पड़ती है। यदि कोई प्रगतिवादी साहित्यकार है तो वह प्रतिभा के बल पर ही साहित्य की रचना करता है और यदि कोई व्यक्तिवादी है, तो भी वह प्रतिभा के बल पर ही साहित्य रचता है, परंतु उनका मानना है कि वह समाज से कटकर साहित्य रचना कदापि नहीं कर सकता और वह साहित्य महान भी नहीं होगा। इस प्रकार इनका मानना है कि साहित्य रचना के लिए प्रतिभा की ही आवश्यकता होती है, रांगेय राघव के मत से प्रतिभा अर्थात् असाधारण प्रतिभा ही व्यक्त होती है, असाधारण प्रतिभा का विरोध डॉ. शर्मा करते हैं और वह सही भी है। डॉ. शर्मा ने भी साहित्य के हेतु में प्रतिभा को महत्व दिया है, परंतु उनकी प्रतिभा कोरी असाधारण प्रतिभा जो अभिनव गुप्त और स्वच्छंद वादियों की काव्य-प्रेरणा है, वैसी प्रेरणा नहीं है। वह प्रतिभा के साथ शक्ति को भी प्रमुख मानते हैं, क्योंकि प्रतिभा तो सबमें होती है, परंतु शक्ति किसी विशेष कारण से ही उद्भूत होती है और यही शक्ति सूक्ष्म गहन अनुभूतियों को साहित्य में ढालती है। साथ ही प्रतिभा के लिए वह मुख्य रूप से सामाजिक तथा आर्थिक-परिस्थितियों को भी उत्तरदायी मानते हैं, क्योंकि मात्र प्रतिभा किसी काम की वस्तु नहीं, जब तक उसे अपने परिवेश से संबद्ध न किया जाए। परिवेश को

उद्धाटित करना मुख्य है और प्रतिभा उसमें सहायक होती है। इस प्रकार उनका मानना है कि सामाजिक संबंधों से हटकर प्रतिभा का जौहर नहीं दिखाया जा सकता। इस प्रकार डॉ. शर्मा का मत रांगेय राघव जी से श्रेष्ठ और तर्क संगत है।

डॉ. नामवर सिंह काव्य अथवा साहित्य रचना के लिए लेखक के व्यक्तित्व की महत्ता को स्वीकार करते हैं, परंतु मुख्य रूप से सामाजिक परिस्थितियों को ही उत्तरदायी मानते हैं। उनकी दृष्टि में लेखक से अधिक सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जो साहित्य को प्रेरणा प्रदान करती हैं। वे स्वीकार करते हैं कि परिस्थितियाँ लेखक के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि लेखक साहित्य प्रेरणा समाज से ही ग्रहण करता है और कहीं से नहीं। इस प्रकार वे डॉ. शर्मा के मत के निकट ही हैं। वे साहित्य-रचना में लेखक के महत्त्व, व्यक्तित्व और प्रतिभा को स्वीकार करते हैं, लेकिन उसे सब कुछ मान लेने के पक्ष में नहीं हैं और वे उन विचारकों के मतों को भी अनुचित ठहराते हैं जो साहित्य-निर्माण का सारा श्रेय साहित्यकार को देते हैं, उसकी बुद्धि, वैभव अथवा प्रतिभा को दे देते हैं। वे मुख्य रूप से प्रतिभा को स्वीकार नहीं करते, बल्कि उनका मानना है कि कृति-निर्माण के पीछे लेखक की परिस्थितियाँ और उसका श्रम ही होता है। वे अंततः स्वीकार करते हैं कि साहित्यकार को सामयिक जीवन और युग की परिस्थितियाँ ही प्रभावित करती हैं और उसका व्यक्तित्व भी युग को प्रभावित करता है, अर्थात् साहित्य के निर्माण में युग की परिस्थितियों का ही प्रभाव होता है। इस प्रकार डॉ. सिंह का मत और डॉ. शर्मा का मत काव्य हेतु, प्रेरणा के विषय में समान हैं। दोनों ही मुख्य रूप से प्रतिभा के साथ सामाजिक, सामयिक परिस्थितियों को उत्तरदायी मानते हैं।

मुक्तिबोध साहित्य के हेतु और प्रेरणा को किसी एक मत अथवा निश्चित दायरे में सीमित नहीं करते, उनके काव्य हेतु और प्रेरणा जीवनानुभवों पर ही आधारित हैं, इसलिए काव्य हेतुओं में प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और समाधि को स्थान देते हुए सबका समन्वय मानते हैं और सभी को एक-दूसरे का पूरक मानते हुए साहित्य-रचना के लिए उपयुक्त ठहराते हैं। वे प्रतिभा को तो महत्त्व देते हैं, परंतु उसके लिए अभ्यास की आवश्यकता पर भी बल देते हैं, क्योंकि उनका मानना है कि अभ्यास के अभाव में प्रतिभा समाप्त हो सकती है। वे प्रतिभा को किसी असाधारण प्रतिभा अथवा ईश्वर प्रदत्त शक्ति न मानकर मानवजगत प्रदत्त शक्ति ही स्वीकार करते हैं और इस प्रतिभा को बनाए रखने के लिए निरंतर श्रम और परिष्कार की बात करते हैं। मुक्तिबोध की प्रतिभा के संबंध में मान्यता डॉ. शर्मा की मान्यतानुसार ही है। वे भी प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त नहीं, बल्कि परिस्थिति सापेक्ष ही स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि प्रतिभा सामाजिकता पर ही आधारित है, क्योंकि उसे सीखना इसी समाज से पड़ता है और इसे बनाए रखने के लिए भी समाज की ही आवश्यकता होती है। बहुज्ञता को समाज से ही तो ग्रहण किया जाता है। वे प्रतिभा के साथ श्रम, साधना-अभ्यास को स्वीकार करते हैं और इसीसे कविता को संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन प्राप्त होता है। मुक्तिबोध के लिए मानव-जीवन के उदात्त पक्ष ही काव्य की प्रेरणा हैं। वे कलाकार की प्रेरणा मानव जीवन को ही स्वीकार करते हैं और इसी से वह कार्य की ओर प्रवृत्त होता है। वे सामाजिकता या

परिस्थितियों को ही प्रेरणा के रूप में स्वीकार करते हैं, जिनमें मानव-संबंध निहित रहते हैं। इस प्रकार मुक्तिबोध काव्य हेतु-प्रेरणा को सामाजिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में वस्तुगत सत्ता से उत्पन्न मानते हैं। यहाँ पर मुक्तिबोध का मत अत्यंत तर्कसंगत और अनुभव सिद्ध प्रतीत होता है, वह बड़ी गहराई में जाकर हेतु, प्रेरणा का विवेचन करते हैं। यह विवेचन अत्यंत मौलिक तथा जीवन सापेक्ष है।

निष्कर्षात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सामाजिक, आर्थिक और परिवेशगत परिस्थितियाँ ही काव्य की प्रेरणा बनती हैं और यह प्रगतिवादी लेखक के लिए आवश्यक भी है। डॉ. शर्मा, मुक्तिबोध, डॉ. सिंह इस मत को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। डॉ. रांगेय राघव इन परिस्थितियों के अतिरिक्त अन्य प्रभावों को भी ग्रहण करते हैं, परंतु वे मत इस समीक्षा पद्धति के दायरे से बाहर ही हैं। काव्य हेतु के विषय में डॉ. सिंह और डॉ. शर्मा एक मत नजर आते हैं। वे प्रतिभा के साथ परिवेश को भी उत्तरदायी मानते हैं। रांगेय राघव प्रतिभा को ही मुख्य मानते हैं। वे इससे आगे परिस्थिति सापेक्ष कुछ भी नहीं सोचते। मुक्तिबोध प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास पर भी बल देते हैं, परंतु प्रतिभा को अंततः सामाजिकता पर ही निर्भर मानते हैं। इस प्रकार डॉ. शर्मा के मत के निकट ही दृष्टिगोचर होते हैं।

□

विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
जे. एस.एम. महाविद्यालय
अलीबाग (महाराष्ट्र) ४०२२०१

With Best Compliments from :

Jagir Singh

4, Bela Building
Chheda Nagar
Mumbai-400089.

*With Best Compliments
from :*

Vishakha Thakur

902, Avon,
Hiranandani Estate
Patlipada,
Ghodbunder Road,
Thane (West)
Pin : 400 607

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

श्रीमती सुनीता गुप्ता

हिंदी विभागाध्यक्ष
एल. एस. रहेजा कॉलेज
सांताक्रुज (पश्चिम),
मुंबई-४०००५४

With Best Compliments from :

RANE & COMPANY

**Mandap Contractors
Events Lowdspeakers & Electrical Decorations**

Shop No.7, Amar Mahal,
Opp. H. P. Patrol Pump
Chembur, Mumbai- 400 089
Mobile : 9819844437

अशेष शुभकामनाओं के साथ

अवध को. ऑप. क्रेडिट सोसाइटी लि.

४, हैदरे हॉस्टल, अंश लेन कॉर्नर, पेट्रोल पम्प के सामने,
डी. ए. बाबरेकर मार्ग, ३३ गोखले रोड, दादर (प.),
मुंबई - ४०० ०२८

अध्यक्ष

फोन : ०२२-२४३०३६३६/३२०५३५३३

श्री. त्रिवेणी यादव

मो. ९८३३४६५०१०

सचिव

श्री. परमेश रामचंद्र गुप्ता

मो. ८०८०००२२६६

‘समीचीन’ के लिए अशेष शुभकामनाओं के साथ

वसुधा सहस्रबुद्धे

३०६, वटवृक्ष
३६, ब्राह्मण सोसाइटी
नौपाड़ा, ठाणे (पश्चिम)
पिन : ४०० ६०२

● सीताराम गुप्ता

क्या हम वास्तव में शिक्षित हो पाए हैं?

क्या हम वास्तव में शिक्षित हैं? एक शिक्षित समाज में ये प्रश्न पूछना या उठाना कुछ अटपटा-सा लग सकता है लेकिन है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न ही। हम में से कई महानुभावों ने देश के चर्चित विश्वविद्यालयों अथवा अग्रणी शिक्षा संस्थानों में अध्ययन किया है। बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ हासिल की हैं। कई उपयोगी कुशलताओं का विकास किया है इसमें भी संदेह नहीं। लेकिन फिर भी प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या हम वास्तव में शिक्षित हैं? इस प्रश्न के साथ ही एक और प्रश्न उठता है और वह यह कि शिक्षा क्या है? क्या बी.ए., एम.ए., बी.एस.सी., एम.एस.सी., एम. फिल., पी.एच.डी., डी.लिट. बी.टेक., एम. टेक., एम. बी.बी.एस., एम.डी. अथवा अन्य डिप्लोमा-डिग्री प्राप्त कर लेना ही शिक्षा है? क्या इन कोर्सेज में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो जाना ही हमारी शैक्षिक योग्यता के स्तर को निर्धारित करने में सक्षम है? और यदि इन सबका महत्व नहीं है तो फिर क्यों हम इन उपाधियों के पीछे बेतहाशा दौड़ते हैं?

प्रश्न उठता है कि क्यों आज का युवा एक अदद उच्च स्तरीय प्रोफेशनल डिग्री पाने के लिए अपने यौवन का एक स्वर्णिम भाग स्वाहा कर डालता है? क्यों माता-पिता अपने बच्चों को एक अच्छे विद्यालय में प्रवेश दिलाने के लिए लाखों रुपए और एक प्रोफेशनल कोर्स में प्रवेश दिलाने के लिए करोड़ों रुपए देने से भी पीछे नहीं हटते? क्यों लोग कर्ज लेकर भी उच्च शिक्षा पाने को लालायित रहते हैं? कुछ लोग स्कूल-कॉलिजों में औपचारिक शिक्षा तो नहीं प्राप्त कर पाते लेकिन अपने स्वाध्याय से स्कूल-कॉलिजों में शिक्षा पानेवालों से कम भी नहीं होते। और अंत में, क्या एक अदद खूबसूरत सी डिग्री प्राप्त हो जाने अथवा स्वाध्याय मात्र से ही शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है? इन सब प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। शिक्षा क्या है?

शिक्षा के अनेक स्तर और स्वरूप समाज में प्रचलित होते हैं। भौगोलिक और सांस्कृतिक अंतर के कारण भी अलग-अलग स्थानों पर ये रूप अलग-अलग हो सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा का स्वरूप स्थान सापेक्ष अथवा समाज सापेक्ष होना स्वाभाविक है। संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ शिक्षा अभिन्न रूप से जुड़ी होती है इसमें संदेह नहीं। यदि मोटे तौर पर देखें तो

संस्कृति और सभ्यता का विकास ही शिक्षा है। यहाँ हम कह सकते हैं कि मनुष्य का विकास ही शिक्षा है। मनुष्य के विकास के अभाव में कैसी शिक्षा? विकास से तात्पर्य है सर्वांगीण विकास। जो व्यक्ति, समाज और संपूर्ण ग्रह अर्थात् पूरी धरती के विकास में सहायक हो, वही शिक्षा है। जो व्यक्ति विशेष का सर्वांगीण विकास तो करे लेकिन समाज का नहीं — उस शिक्षा में कुछ कमी है। यदि शिक्षा समाज का सर्वांगीण विकास करे तो हर व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव है लेकिन कुछ व्यक्तियों का विकास समाज का विकास नहीं।

अविकसित समाज के तथाकथित चंद विकसित व्यक्ति सही मायनों में पूर्ण रूप से विकसित नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार जब तक समाज में अशिक्षा का बोलबाला है तब तक शिक्षित व्यक्ति भी पूर्ण रूप से शिक्षित नहीं माने जा सकते। जब विकास की बात आती है तो काल की बात आती है। सालों, सदियों और सहस्राब्दियों में होता है थोड़ा-बहुत विकास। अतः विकास से जुड़ी शिक्षा एक सी नहीं होती। वह भी परिवर्तनशील है। वह भी विकसित होती है। इस प्रकार शिक्षाकाल सापेक्ष भी है। बीते कल की शिक्षा आज अप्रासंगिक अथवा अनुपयोगी हो सकती है। इस तरह शिक्षा अलग-अलग स्थानों और युगों में अलग-अलग रूपों में रहती है। शिक्षा को और भी अनेकानेक स्तरों और रूपों में विभाजित किया जा सकता है।

ऊपर सर्वांगीण विकास की बात हुई है। यदि मनुष्य के संदर्भ में सर्वांगीण विकास की बात करें तो उसके भौतिक शरीर, मन और चेतना के विकास का नाम ही उसका सर्वांगीण विकास है। समाज की दृष्टि से समाज के हर वर्ग का पूर्ण विकास ही सर्वांगीण विकास है। हमारी अपनी इस धरती को क्षति पहुँचाए बिना, इसके वायुमंडल को दूषित किए बिना तथा प्रकृति के सौंदर्य को नष्ट किए बिना मनुष्य और समाज के विकास के लिए जो भी प्रयास हम कर रहे हैं वो सब शिक्षा के अंतर्गत आते हैं। मनुष्य द्वारा प्रकृति के और मनुष्य के परस्पर एक दूसरे के शोषण की प्रक्रिया को समाप्त करने की दिशा में अग्रसर होना ही शिक्षा है। अब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार की शिक्षा का स्वरूप कैसा होता है तथा इसके लिए किन-किन साधनों की ज़रूरत पड़ती है?

क्या वर्तमान शिक्षा प्रणाली द्वारा इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है? इसे समझने के लिए पहले दो शब्दों को जानना होगा और वे हैं शिक्षा और साक्षरता। शिक्षा को समझना थोड़ा मुश्किल है लेकिन साक्षरता को समझना अपेक्षाकृत सरल है। साक्षरता का अर्थ है मात्र अक्षर ज्ञान। यानी किसी भाषा को पढ़ना और लिखना जानना। हमारे यहाँ वो सभी लोग जो अंगूठा लगाने की बजाए किसी तरह गलत-सरल वर्तनी के साथ अपना नाम ही लिख पाते हैं साक्षर वर्ग में आते हैं। तो क्या फिर वो लोग जो अच्छी तरह से लिख पढ़ सकते हैं या जो उच्च डिग्रीधारी हैं वही शिक्षित वर्ग में आते हैं? वास्तव में उच्च डिग्रीधारी व्यक्ति भी शिक्षित नहीं कहा जा सकता यदि उसमें शिक्षा नामक तत्त्व का समावेश नहीं। अब प्रश्न उठता है कि क्या साक्षरता निरर्थक है। उसका शिक्षा से कोई संबंध नहीं? नहीं, साक्षरता निरर्थक नहीं लेकिन फिर भी यह शिक्षा नहीं है।

साक्षरता अथवा अक्षर-ज्ञान शिक्षा नहीं लेकिन साक्षरता अथवा अक्षर-ज्ञान शिक्षा में

बाधक या शिक्षा का विरोधी बिलकुल नहीं अपितु सहायक होता है। कबीर का उदाहरण हमारे सामने है। वे निपट निरक्षर थे लेकिन क्या वे अशिक्षित कहे जा सकते हैं? हर्गिज़ नहीं। क्या अक्षर ज्ञान की कमी उनकी शिक्षा में बाधक बनी? और यदि कबीर को अक्षर-ज्ञान होता तो क्या वो उनकी शिक्षा में बाधक बनता? बिलकुल नहीं। आज हम बेशक शिक्षित न हों लेकिन अपने अक्षर ज्ञान की वजह से ही कबीर को जानते हैं इसमें संदेह नहीं। साक्षरता अथवा अक्षर-ज्ञान उपयोगी है, शिक्षा में सहायक है लेकिन स्वयं में शिक्षा नहीं। कबीर की वाणी से लाभांविता होने की क्षमता का विकास होना वास्तव में शिक्षा है जो एक आंतरिक तत्त्व है। कबीर की वाणी को पढ़ने का सामर्थ्य साक्षरता है तो उसे समझने की योग्यता भी केवल बौद्धिकता है। उसके उपयोगी तत्त्वों द्वारा मनुष्य का सकारात्मक विकास ही सही शिक्षा है।

प्रायः ऐसी घटनाएँ देखने-सुनने में आती हैं कि किसी नौकर से कोई चीज टूट गई या कुछ नुकसान हो गया तो मालिक द्वारा उसको अमानवीय यातनाएँ दी गईं। पिछले दिनों ऐसे मामले भी प्रकाश में आए हैं कि ऐसी यातनाओं के कारण नौकर या नौकरानी की मृत्यु तक हो गई। माना कि एक टी सैट या क्रिस्टल का गिलास बहुत कीमती है लेकिन एक समृद्ध व्यक्ति के लिए ये क्या मायने रखता है और फिर क्या एक कप, प्लेट या गिलास की कीमत एक व्यक्ति की जान से ज्यादा महत्वपूर्ण हो सकती है? कदापि नहीं। फिर क्यों ऐसा होता है कि हम थोड़े से आर्थिक नुकसान के लिए किसी की जान लेने से भी नहीं हिचकिचाते? कारण स्पष्ट है और वो है ज्ञान व शिक्षा का अभाव।

इस प्रकार की घटनाएँ न केवल गाँवों और कस्बों तक सीमित हैं अपितु बड़े-बड़े शहरों और महानगरों तक में ऐसी घटनाएँ घटित होना आम बात है। इस प्रकार की घटनाएँ न केवल अशिक्षित अथवा अल्पशिक्षित लोगों द्वारा अंजाम दी जाती हैं अपितु समाज के शिक्षित और आज की भाषा में कहें तो प्रोफेशनल और समृद्ध लोगों द्वारा भी ऐसी घटनाओं को अंजाम देना साधारण सी बात है और इसमें महिलाएँ भी पीछे नहीं हैं। किसी की जान लेने का अर्थ है जिंदगी भर जेल की सलाखों के पीछे सड़ना या फाँसी। क्या कारण है कि हम विवेक से काम न लेकर दूसरों का और स्वयं का जीवन संकट में डाल देते हैं? ऐसे अविवेकी लोगों को भी शिक्षित की श्रेणी में रखना उचित प्रतीत नहीं होता।

पिछले दिनों एक समाचार देखने को मिला कि एक महिला ने अपने नौकर की इस कदर पिटाई की कि उसकी मौत ही हो गई और इस पिटाई का कारण था नौकर द्वारा घर के पालतू कुत्ते को समय पर भोजन न देना। एक और घटना में नौकर ने चाय फर्श पर गिरा दी तो मालकिन ने उसे थप्पड़ जड़ दिया। अगले दिन सब्जी में नमक ज्यादा हो गया तो भी मालकिन ने नौकर की अच्छी खासी धुनाई कर डाली। बदले में एक दिन नौकर ने अपनी बुजुर्ग मालकिन जो एक रिटायर्ड प्रिंसिपल थीं कि हत्या ही कर डाली। मक्तूला एक प्रिंसिपल थीं तो जाहिर है कि खूब पढ़ी-लिखी भी होंगी ही लेकिन क्या मात्र शैक्षिक डिग्रियों से जीवन प्रवाह सुचारू रूप से प्रवाहित हो सकता है? दान-धर्म के नाम

पर हम लाखों रुपए खर्च करने से नहीं चूकते लेकिन जो लोग दिन रात हमारी सेवा में संलग्न रहते हैं उनके प्रति हम प्रायः कठोर ही बने रहते हैं। क्या यही धार्मिकता है? क्या यही ज्ञानशीलता है? क्या इसमें शिक्षा का अभाव नहीं झलकता?

स्वयं को परिग्रह, दूसरों के शोषण, असहिष्णुता, असहजता, धर्मांधता, अंधविश्वास और आडंबर से मुक्त कर लेना ही शिक्षित होना है। स्वयं में दूसरों के दुख-दर्द के प्रति संवेदनशीलता उत्पन्न करना ही शिक्षा है। आज अक्षर ज्ञान और बौद्धिकता के आधिक्य के कारण ही हम अधिकाधिक अहंकारी होते जा रहे हैं। यदि हम वास्तव में शिक्षित होते तो हमारा दंभ बढ़ने की अपेक्षा कम होता जाता। हम प्रायः साधनों को गंतव्य मानने की भूल कर बैठते हैं। आज हम अनेकानेक विषयों का पठन-पाठन करते हैं जैसे भाषा, गणित, विज्ञान, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, प्रबंधन, धर्मज्ञान आदि। ये सब शिक्षा के साधन हैं। इनसे जीवन में व्यावहारिक या व्यावसायिक कुशलता उत्पन्न होती है। व्यावहारिक अथवा व्यावसायिक कुशलता से सामंजस्य उत्पन्न होता है। सामंजस्य से द्वंद्व की समाप्ति संभव है। प्रायः सभी व्याधियों के मूल में द्वंद्व ही होता है। द्वंद्व की समाप्ति ही संपूर्ण उपचार में सहायक है। द्वंद्व ही अज्ञान अथवा अशिक्षा का कारण बनता है।

कहा गया है सा विद्या या विमुक्तये जो हमें मुक्त करे वही विद्या है। मुक्ति से तात्पर्य है अज्ञान अथवा अशिक्षा से मुक्ति। नकारात्मक भावों से मुक्ति। मनुष्य का एक परम लक्ष्य होता है नकारात्मक भावों से मुक्त होकर आत्म-विकास करना। दूसरों के विकास में बाधा न बनते हुए स्वयं का विकास ही शिक्षा है। शिक्षा के लिए ज्ञान शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। शिक्षा या विद्या की तरह ज्ञान भी विषयों अथवा पदार्थों का नहीं होता। बाह्य जगत का ज्ञान तो सूचना मात्र है। वास्तविक ज्ञान तो स्वयं के जानने को कहा गया है। जो स्वयं को जानने की दिशा में अग्रसर हो गया, वही सच्चा ज्ञानी और वही सच्चा शिक्षित भी है। शिक्षा वास्तव में बाह्य परिवर्तन नहीं अपितु आंतरिक परिवर्तन है। शिक्षा मनुष्य का रूपांतरण है।

मनुष्य का रूपांतरण कैसे संभव है इसके लिए महात्मा ज्योतिबा फुले के जीवन की एक वास्तविक घटना देखिए। महात्मा ज्योतिबा फुले एक महान समाज-सुधारक और निर्भीक व्यक्ति थे। उन्होंने न केवल अपनी पत्नी सावित्रीबाई को पढ़ाया-लिखाया अपितु स्त्रियों के लिए पाठशाला भी खोली। समाज के कुछ लोगों को यह स्वीकार नहीं था। उन्होंने महात्मा ज्योतिबा फुले की हत्या करने के लिए कुछ लोगों को तैयार कर लिया। दो व्यक्ति महात्मा ज्योतिबा फुले की हत्या के उद्देश्य से उनके घर पहुँचे। महात्मा ज्योतिबा फुले के ये पूछने पर कि उनकी उससे कोई दुश्मनी नहीं है फिर भी वे क्यों उनकी जान लेना चाहते हैं तो हत्यारों ने बताया कि वो ये सब पैसे के लिए कर रहे हैं। तब महात्मा फुले ने पत्नी से कहा, सावित्री मेरे मरने के बाद भी शिक्षा और समाज सुधार का काम जारी रखना।

उसके बाद महात्मा ज्योतिबा फुले ने हत्यारों से कहा कि वे मरने के लिए तैयार हैं। फिर उन्होंने हत्यारों से पूछा आपके बच्चे पाठशाला तो जाते होंगे? यदि नहीं जाते तो कल ही पाठशाला में

उनका नाम लिखवा देना ताकि बड़े होने पर वे कोई सही काम-धंधा कर सकें और पैसे के लिए किसी की हत्या करने की नौबत न आए। ज्योतिबा की बातों से उनका मन ही बदल गया। हत्या तो दूर वे उनके शिष्य बन गए। एक तो बाद में पढ़-लिख कर वेद-शास्त्रों का प्रकांड पंडित बन गया। महान व्यक्तियों के संपर्क में आकर, उनके श्रेष्ठ आचरण से प्रभावित होकर सही मार्ग पर अग्रसर होना ही वास्तविक शिक्षा है और इसके लिए किसी विद्यालय, विश्वविद्यालय या अन्य किसी बड़े शिक्षा संस्थान में जाने की भी ज़रूरत नहीं।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम शिक्षा संस्थानों की उपेक्षा करें अथवा पढ़ना-लिखना छोड़ दें। मनुष्य के बाह्य विकास एवं वास्तविक शिक्षा प्राप्ति के लिए साक्षरता तथा औपचारिक शिक्षा भी अनिवार्य है। अनौपचारिक शिक्षा तो हम बिना किसी प्रयास के भी प्राप्त करते रहते हैं लेकिन हमारी अनौपचारिक शिक्षा भी ऐसी हो जो हमारे रूपांतरण में सहायक हो। इसके लिए भी हमें अपने लिए सही परिवेश, अच्छे मित्रों व सहयोगियों, अच्छी पुस्तकों तथा अच्छी आदतों के चुनाव की योग्यता विकसित करनी होगी। औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा में पूर्ण संतुलन उत्पन्न करके हम सही अर्थों में शिक्षित होने की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं, अपना सर्वांगीण विकास कर सकते हैं।

गांधीजी ने कहा है कि कोई असत्य से सत्य को नहीं पा सकता। सत्य को पाने के लिए हमेशा सत्य का आचरण करना ही होगा। लोग आमतौर पर 'शठे शाठ्यं समाचरेत' की नीति पर चलते हैं। 'जैसे को तैसा' अथवा ईट का जवाब पत्थर से देने के नियम को मानते हैं। गांधीजी ने सदा साधनों की शुद्धता पर बल दिया। शिक्षा में उदात्त मूल्यों के अभाव यह संभव ही नहीं। इन उदात्त मूल्यों की प्राप्ति के लिए सरकार के साथ-साथ स्वैच्छिक संस्थानों को भी अपने उत्तरदायित्व को समझकर सही दिशा में अग्रसर होना चाहिए अन्यथा ये सारी प्रक्रिया एक तमाशा बनकर रह जाएगी। आज समाज में हर जगह बेचैनी व्याप्त है। तनाव, संवेदनहीनता, असुरक्षा की भावना, प्रतिशोध की भावना, हिंसा व अन्य नकारात्मक मूल्य सर्वत्र दिखलाई पड़ते हैं और इसका कारण है नैतिक परिवर्तन में विचलन। मूल्यों के अभाव में सारी शिक्षा और उससे प्राप्त उन्नति अपूर्ण है, घातक है। आज हम सबको अपना सारा ध्यान उत्पादकता के साथ-साथ उसकी गुणवत्ता पर भी केंद्रित करना होगा। तभी हम सही अर्थों में समाज को आगे ले जा पाएंगे।

□

- ए. डी. १०६-सी, पीतम पुरा,
दिल्ली-११००३४

अरुणा दुबलिश की बारह कविताएँ

एक अनात्मकथा

१

(इंदिरा गांधी की मृत्यु पर)

यह किसने मुझे
गहर गुफाओं से पुकारा
ऊपर गहरे चमकते हुए सूरज तक
पहुँचते हुए
मेरे इर्द-गिर्द ये कैसे बादल
रक्त की अनगिन बूँदों से
टपकते हुए फूल
एक गहरे कोहरे को बेधते हुए
कुछ जख्मी निशान...

यह कैसा नंपुसक आक्रोश
संघर्ष का अस्तित्व या
अस्तित्व का संघर्ष
सब कुछ सँवारते हुए
सब कुछ का संहार
समझ से परे
एक अबूझ प्रहार...

माना कि मेरी नीतियों के तुम
समर्थक नहीं थे
माना कि मेरे सिद्धांत तुम्हारे
विचारों के खिलाफ़ थे
पर क्या एक नश्वर लोक से
मुझे इसी तरह अनश्वर की ओर जाना था
(तुममें)
आतंक की कथा

मृत्यु से अमरता तक
समीचीन

अंधकार से प्रकाश तक
असत्य से सत्य तक
कौन चलेगा
कौन है जो इन गह्वर गुफाओं से परे
असीम आकाश में
सूरज की आखिरी किरण तक
चेतना के पार के लोक को
सँवारेगा
ओ मृत्यु के देवता
अमरता के प्रहरी
तुम्हारे निशान
पृथ्वी के वक्षःस्थल को
क्या इसी प्रकार चीरेंगे...

कौन देगा इन प्रश्नों का उत्तर
कौन इन दिशाओं से मांगेगा हिसाब
जबकि इन प्रश्नों से परे रहेगा
यह शरीर
इन उत्तरों से परे रहेगी
यह आत्मा

२

खिड़की खोलकर तुमने
बारिश को
भीतर बुला लिया
यह नहीं सोचा
इसकी नरमाहट ने
हमें छू लिया तो...

३

चाँदी के कलदार सिक्के
आकाश में बिखरे पड़े थे

जुलाई-दिसंबर २०१७

ठंडी हवाएँ /लताओं से लिपट
ढूँढ रहीं थीं चाँद
डगमगाते सफ़र में

४

ठंडे सपने
कुनमुनाती सुबह
गुमसुमसी
अनमनी सी

५

प्रेम में
हिसाब-किताब किया
तो प्रेम ही
नहीं रहा

६

ज़िंदगी के पाँव में
छाले पड़े
और सुबह हो गई
यूँ ही खड़े

७

हथेली भर समय
मुट्ठी भर रोशनी
तलाशती रहीं आँखें

८

नन्हीं चिड़िया-सी
पंख फड़ फड़ा कर
उड़ गई
मेरी कहानी
समीचीन

९

खुले पंखों सा
आसमान का मन
भावों के रंग भरा
बेपरवाह

१०

स्त्री कच्ची मिट्टी की
बनी होती है
जैसा चाहो ढाल लो पर
पक जाती है जब भट्टी में
टूट तो जाती है
ढल नहीं पाती।

११

उतना ही गहरा है नीला आकाश
धरती उतनी ही हरी
सूरज तो सदा चमकता लाल ही
दिखाई दिया
मैंने मौसम के साथ कभी
समझौता नहीं किया

१२

एक तेज हवा का झोंका आया और
वे सब खत उड़ गए
जिनमें मेरे नाम के आगे
प्रिय लगा था
अब भी कभी-कभी
हवा में फड़फड़ाता कोई पत्र
उड़ता तो दिखाई देता है पर
ज़मीन तक नहीं आ पाता

□

मोहम्मद तारिक असलम की चार कविताएँ

१. रिश्तों का सफर

रिश्तों का
कैसा यह सफर है?
ताजिंदगी एक मुट्ठी चाँदनी को
तरसती रही
मैं
पत्थर सरीखे देवताओं के आगे
सिर पटकती रही मैं
रोज-रोज शब्दों के मुहावरों से
दिल अपना बहलाती रही मैं
कहीं तो दिख जाए
कोई मुक्ति मार्ग
नजरो में/समंदर
बिल्कुल करीब था
अगर कुछ नहीं था तो
लहरों में कोई मिठास/
जिसकी
बरसों-बरस बाद भी है मुझको
तलाश...
मेरी मांग में चांद-सितारे किस
काम के
जब हृदय हो एक खाली
गिलास
अजीब सी है
मेरी यह प्यास
मन रहता सदैव उदास
नहीं कर पाती किसी पर अब
विश्वास।
फिर भी ख्वाहिशों को कहाँ
छिपाती फिरूँ?
नजरो में हाजिर

समीचीन

दुख-दर्द की है
यह तो खुली किताब
सुनो ना
तुम्हें कुछ याद है?
कहाँ मिले थे?
पहली बार हम जनाब?
निगाहों ने दिया था
एक-दूसरे के हजारों सवालों
का किस तरह जवाब
नजरो में
कहाँ अब वो
सपनों का शहर है
हर तरफ अब तो खिजाँ का
मंजर है।

२. गौरेया की तरह...

प्रतिदिन
छत की मुंडेर पर
सूर्य किरणें उतरती
मेरी आंखें तलाशती
आसपास के
पेड़ों/पौधों/
झाड़ियों/पहाड़ियों
गगनचुंबी अटटालिकाओं को/
कि कहीं दिख जाएं
गौरेया के झुंड
जो मेरे गांव के मटियाले
खपरैले झरोखे में धोंसला
बनाती
मेरे मन में एक नई सुबह का
हौसला जगाती।

जुलाई-दिसंबर २०१७

शहर के कबूतरखानों
 सरीखे दो तीन कमरों के
 फ्लैट में
 मीठे-मधुर कलरव सुने महीनों
 गुजर जाते
 कभी शहर से काफी दूर
 पर्वत विहार भ्रमण को
 सच कहूँ
 मन के पोर-पोर खिल गए
 जहाँ
 दूर-दूर तक नजरों के नीचे
 मंद-मंद बहती अजय नदी के
 किनारे में दिखाई पड़ती
 आदिवासियों की
 झुग्गी-झोपड़ियों से सजी
 बस्ती/किंतु
 गौरैया कहीं नहीं दिखती
 हम से यूँ बिछड़ते जा रहे
 पखेरू-पंछी
 जैसे कि आदिवासियों के लिए
 दुर्लभ हुईं
 सरकारी घोषित योजनाएँ
 उनके नाम पर
 हमेशा बटोर ले गए
 सुविधा संपन्न
 न जाने कितने लोग
 सारी सुविधाएँ
 कौन हैं ये लोग?
 देश को लगा यह कैसा रोग
 गौरैया की तरह
 लुप्त होतीं
 आदिवासियों की
 तमामतर आशाएँ
 अब तो यही लगता है कि
 समीचीन

जोंक की मानिंद
 एक दिन/निगल जाएंगे
 गांव के सारे
 खेत-खलिहान/बाग-बगीचे
 नहीं दिखेंगे कहीं
 पोखर-तालाब
 होंगे चारों तरफ
 कंकरीट के घने जंगल
 आदमियों के चेहरे
 पहचान में नहीं आएंगे
 पहने होंगे/सबके सब
 एक नहीं
 कई-कई नकाब
 खो चुकी होंगी
 आदिम जातियाँ
 अपनी सांस्कृतिक/धार्मिक पहचान
 उनके चेहरे भी पुते होंगे
 बहुतेरे मेकअप
 के सामानों से
 खरीद रहे होंगे वे भी बड़े
 शौक से लेवेंडर/कास्मेटिक्स
 सुगंधित शॉप
 पर सच कहूँ तो
 मुझे ऐसे शहरीकरण से लगता
 है बहुत डर
 कारण वह दिन अब दूर नहीं
 जब उठेगा किसी छोर से
 महाप्रलय का
 भयानक बवंडर
 देखते-देखते
 शहर दर शहर बन जाएंगे
 खंडहर
 शेष रहेगा मिट्टी का घरा।

३. जिंदगी एक नाव है...

कहीं धूप/कहीं छांव है
समय के धार पर
लहरों से जूझती
जिंदगी एक नाव है
स्वप्नों के किले
एक नहीं अनेक ध्वस्त हुए
तबाही देखकर अपनी
आंसूओं से पलक भीगते
जखमों के पहाड़ तले
दबा पांव है
नींद से जागे
घर-बाहर भागे
शनैः शनैः
डूबते गए सारे घर-द्वार
इतने गुस्से में थी नदिया की
धारा
जान-मान
गाय गोरू
कुछ भी तो नहीं सहेज पाया
बुधिया बेचारा
नहीं शेष रहा
दरखतों के सिवाये
कोई पहचान चिह्न
जहाँ पले-पढ़े थे
बरसों-बरस
अब वह जगह थी
अनचिह्न
अंजाने खौफ से
रूह कांपती है
कैसा कुदरत का
यह दांव है!

समीचीन

काश!

समझ गए होते सब लोग
ख्वाहिशें लहरों की
बिछड़ने वाले साथ होते
अपने कांधे पर नहीं होतीं
अपनों की लाशें
अंतस में चीखें नहीं घुटतीं
नहीं भरने वाला कभी
कुछ ऐसा घाव है
लहरों से जूझती
जिंदगी एक नाव है...।

४. आदमी होने का डर...।

अब
अपने आसपास
कहीं जंगल होने का नहीं रह
गया है कोई डर
चूंकि अपने चारों तरफ
खेत-खलिहानों
वन-बागानों
में आबाद हो गए हैं शहर
गगनचुंबी इमारतों
को देखो तो जरा
आदमी दिखते हैं बेचारे
जैसे घोंसलों में मौजूद कबूतर
फिर भी लोग बाग बेतरह
खौफजदा हैं
कि न जाने किधर से निकल
आए
कोई भेड़िया/अजगर की
शकल में
अपने शिकंजे में गर्दन
दबोचता

जुलाई-दिसंबर २०१७

64

रक्तरंजित शव घसीटता
रास्ते भर दहशत बोता
नफरत की छुरियाँ बाँटता
कुछ इस तरह
समाज का दिखने लगा है
चलन
उजड़ता सा नजर आता
अपना प्यारा सा चमन
हालात
इतने बदतर हुए हैं कि लोग
भगवान से प्रार्थनाएँ करते
मार्गों से सहमे हुए गुजरते
यह आदमी से हैवान होने का
भय नहीं तो क्या है?
एक तरफ चांद पर बस्तियाँ
बसाने का सपना
दूसरी ओर
मुखौटाधारियों संग जीना
सिर फिरे लोगों को
इससे क्या लेना?
न तो उसने इतिहास पढ़ा
और न ही भूगोल
इतना जानना काफी है उसके
लिए
यह दुनिया है गोल
स्वार्थ के चूल्हे पर
चटपटे शब्दों में भड़या जी को
बहुत भाता है
गौ माता के बोल
या फिर
दलितों को पीड़ित/प्रताड़ित
करते रहना
बहुत है सुहाता
जो है इस देश का
समीचीन

आम आदमी
आजादी के सत्तर सालों के
बाद भी
भूख और गरीबी को अपने
भाग्य का लिखा मानकर
बोझ समझकर है ढोता
फिर वह जिंदगी भर है रोता
भूख से अधिक
बेहाल होता
पेट में उसके अन्याय का
चूल्हा सुलगाता है
जबकि वह यह बखूबी जानता
है कि
उसे नहीं चाहिए
गोशत/पराटे/
मुर्गे की टांग
कबाब और बिरयानी
यह सब तो है उच्च वर्ग की
है निशानी
वह बनना भी नहीं चाहता
उनकी तरह
जो भ्रष्टाचार को
शिष्टाचार कहने लगे हैं
जहाँ प्रजा तो है परंतु तंत्र
बेहाल है
भाई मेरे!
यही तो लोकतंत्र का सबसे
बड़ा कमाल है।

**प्लाट-६, सेक्टर-२, हारून नगर
कालोनी, फुलवारी शरीफ,
पटना-८०१५०५, बिहार
मो.९५७०१४६८६४/९५७६६१४८०**

राधेलाल बिजधावने की दो रचनाएँ

१. अवसर वादी लोग

मेरी सुख सुविधाओं में शामिल होकर
लाभ के सारे प्रतिफल बांट लेने वाले कहाँ गये
कहाँ गये अपनी हित चिंताओं में बैठकर/मन
और धन का लाभ का प्रतिफल चुप चाप प्राप्त
करने वाले लोग।

बहुत बोलने वाले लोग चुप थे
और इन सवालों के उत्तरों की जुगाली करने में
व्यस्त थे।

किसी ने कभी नहीं पूछा
जन दुख जन पीड़ाओं के बारे में
संकायों और उहापोहों के दौराहे तिराहे चौराहों
पर खड़े लोग
अंधे गूंगे अपंग होकर
अपने अपने भरोसों के पुल पार कर रहे थे
और मेरे भीतर की टूटत को महसूसने से इंकार
कर रहे थे।
दूसरों के सुखों में हिस्सेदारी करने वाले लोग
अपने अपने अवसरों की गेंद खेल रहे थे
और संभावनाओं के परिंदे उड़ाकर
लकड़बग्घों की ही तरह हंस खिल रहे थे
वक्त के उजाले में सभी लोग अपनी अपनी
उम्मीदों की दौड़ दौड़ते हैं
और अंधेरे में भरोसों के खड्ड में गिर जाने हैं।
बदल जाते है लोग मौसम के बदलाव
और उसका तापमान देखकर।
आजकल लोग रेत के समुद्र में आशा
और विश्वासों का पानी खोजते हैं
बिना परिश्रम के ही लाभ उठाते हैं।

समीचीन

□ और
दूसरों पर आंखें तरेरते हैं।
न जाने कहाँ गुम हो जाते हैं
वक्त की हवा में उड़ने वाले लोग।

२. नींद में

रात में नींद का विस्तार होता है
नींद में सपने सोच विचारों के खिड़की दरवाजे
उखाड़कर न जाने कहाँ ले जाते हैं।

नींद में
वक्त की तेज हवा से
समझ की खिड़की के काँच टूट जाते हैं
और मन के परिंदे वक्त की हवा ले उड़ जाते हैं।

नींद में
बार बार खोजने के बावजूद
मंजिले और रास्ते न जाने कहाँ खो जाते हैं।
नींद में

दूसरों के पेड़ और खूँटे उखड़कर
टूट जाते हैं

नींद में
दुखों परेशानियों के काँटे

चुभने लगते हैं।
नींद में आस्था विश्वास ईमान को

निःशब्द दफन कर दिया जाना है।
नींद में स्वप्न बिम्ब अकस्मात ही

अनुपस्थित हो जाते हैं।

नींद में धरती अपना रास्ता और भूगोल भूल
जाती है।

इ-८/७३, भरत नगर (शाहपुरा)

अरेरा कालोनी

भोपाल-४६२०३४

मो. ९८२६५५९९८९

तोड़फोड़ भी नहीं करता है।

□

□

माता प्रसाद शुक्ल

धर्म और आदमी

धर्म
आदमी को जोड़ता है
तोड़ता नहीं,
तोड़-फोड़ भी नहीं करता है।
धर्म
आदमी का गला नहीं काटता है
बच्चों के हाथ पैर नहीं काटता
घरों में आग भी नहीं लगता
जिंदा भी नहीं जलाता है।
धर्म
भाई से भाई को जुदा नहीं करता है
रोटी रोजी से मौहताज नहीं करता है
माँ-बहनों की अस्मिता से
खिलवाड़ नहीं करता है
नफरत की दीवार भी नहीं उठाता है।
धर्म, धर्म क्या है?
धर्म है भूखे को रोटी
और प्यासे को पानी।
धर्म है,
अंधकार से प्रकाश
की ओर ले जाने का नाम।
धर्म है
इन्सानियत और सद्भावना का नाम
यही है सबसे बड़ा काम
यही है सबसे बड़ा धाम
यही है सबसे बड़ा राम
यही है सबसे बड़ा राम।
धर्म आदमी को जोड़ता है
तोड़ता नहीं,
समीचीन

गज़ल

सहरा दिखाई दे
दरिया दिखाई दे
मैं सोचता हूँ वो,
तन्हा दिखाई दे।
जिसे भी देखूँ मैं,
अपना दिखाई दे।
सस्ता खिलौना भी,
मँहगा दिखाई दे।
कभी-कभी दोस्त भी
काँटा दिखाई दे।
आशिक सच कह दिया,
गुस्सा दिखाई दे।
-शिंदे की छावनी, ग्वालियर-४७४००९
मो. ९४७९३८५८४०

□

देवेंद्र कुमार मिश्र की चार कविताएँ

१. भूलना

मैं सबकुछ भूल जाना चाहता हूँ
भूलने में स्वयं की भलाई है
क्यों संसारी रिश्तों को इतना
महत्व देना
और स्वयं कष्ट में रहना
अपने हित के लिए
भूल जाना चाहता हूँ सबकुछ
तुम तो खैर पराये थे
परायों के लिए क्यों सताना
स्वयं को
भूलना ही बेहतर
सबकी बेहतरी के लिए

जुलाई-दिसंबर २०१७

67

चार दिन के लिए
क्या लड़ना-झगड़ना।
२. मोह
मोह नहीं
जिम्मेदारी है
पौधा लगाने के साथ
करनी पड़ती है देखभाल
देना पड़ता है खाद पानी
बचाना होता है पशुओं से
तब होता है पूर्ण।
लगने भर से कुछ नहीं होता
एक अच्छा नागरिक बनाने के लिए
देना होगा शिशु को अच्छे संस्कार
उत्तम शिक्षा
तब वयस्क होकर खिलते हैं पुष्प
लगते हैं मीठे फल
पिता बनना काफी नहीं
पिता होना जरूरी है
पिता होने के लिए
देना होता है आधा जीवन
एक अच्छे नागरिक का फर्ज तब
होता है पूरा।
कर्तव्य कर रहा हूँ
मोह नहीं
यदि इसे तुम मोह समझते हो
तो जरूरी है ऐसा मोह
समाज, राष्ट्र के लिए।

३. मरा हुआ

बहुत थक गया हूँ
सोना चाहता हूँ जी भर
किंतु डर है कि
कहीं लाश समझकर

समीचीन

दफना न दिया जाऊँ
उथल-पुथल भरे दौर
में नींद की गोलियाँ
खाकर भी नहीं सो पाता आदमी
जो सो जाए
उस पर शक किया जाता है
ये बेफिक्र क्यों इतना
जबकि भोगने को दिया
न जाने कितना
इतना तनाव कि
कमउम्र में चश्मा
बालों में सफेदी
जर्जर काया
ब्लडप्रेसर, शुगर, दमा
जैसी बीमारियाँ आम हैं
अस्थिरता के दौर में
ये आदमी कैसे सो गया चैन से
न खाने को रोटी
न पहनने को कपड़ा
पानी का अकाल, सूखा
भीषण गर्मी
सरकार के नये-नये फरमान
अंधेर नगरी के चौपट राजा
और ये सोया है तो
निश्चित है कि ये
मर गया है।

४. चुनाव

हर बार चुनाव था
और मेरा अपना था
तय कर लो गोली से मरोगे
या फांसी चढ़ोगे।
मंहगाई भ्रष्टाचार

जुलाई-दिसंबर २०१७

68

या फर्जी मुठभेड़ की मौत
 चुनने की आजादी दी
 गई हर बार
 तय मुझे ही करना था
 इससे भी इंकार है
 तो कहो डूब कर मरोगे
 या प्यास से मरना चाहोगे
 बेकारी चाहिए या शोषण
 प्रजातंत्र का यही तो फायदा है
 चुनने का अधिकार है
 बोलो कैसे जीना चाहते हो
 और मैं जो भी चुनता
 वही होता जो होता आया है
 गरीब के साथ, कमजोर के साथ
 जो करते आये हैं अमीर
 और ताकतवर लोग।
 कहने, सुनने-करने की आजादी है
 इस शर्त के साथ
 कि जीभ, हाथ
 और कान उनके पास रहेंगे गिरवी
 काटकर देना होगा उन्हें
 ऐसा नहीं चाहते तो
 चुप रहो, कुछ मत कहो
 केवल सहो
 श्रम करो
 उनके फैलाये भ्रम को सत्य
 मानकर जियो
 न मरते बनता है
 न जीते
 यही जनतंत्र है।

**पाटनी कालोनी, भरतनगर, चंदनगाँव
 छिंदवाड़ा (म. प्र.) ४८०००१**

डॉ. रामदरश मिश्र की चार कविताएँ

१.

खुश हूँ कि आज उनका यों दीदार हो गया,
 यह दिन तो मेरे वास्ते त्योहार हो गया।
 जो दर्द था उनके बगैर सालता रहा,
 जीवन था मेरा बन गया इक पिंड बर्फ का,
 किसने छुआ कि हँस के वो अंगार हो गया।
 कहते हैं वे कि इश्क मजाजी है इक गुनाह,
 लो मैं भी आज एक गुनहगार हो गया।
 बेड़ा फँसा हुआ था जो कल तक भँवर के बीच
 मांझी नया मिला कि आज पार हो गया।
 हँस हँस के ज़िंदगी को आज पथ दिखा रहा,
 वह ख्वाब मेरा कल था जो बीमार हो गया।
 कल तक तो ज़िंदगी का अँधेरा मुझे दिखा
 आज उसकी रोशनी पे एतबार हो गया।

२.

मैं रहा वैसा ही लो दिन एक और गुज़र गया,
 क्या पता खाली हुआ कुछ या कि मैं कुछ भर
 गया।
 महफिलों में ढूँढ़ता फिरता रहा सुख चैन वह,
 थक गया, जब कुछ न पाया लौट अपने घर
 गया।
 मेरा बचपन साथ मेरे खेलता हँसता रहा,
 खोजता हूँ आजकल उसको पता न किधर गया।
 मुद्दतों से हो रहा है इंतज़ार वसंत का,
 करके नंगा दरख्तों को कभी का पतझर गया।
 खिलखिला कर हँसता रहता था, रहा जब गाँव
 में,

मुस्कराता भी नहीं जब से वो शख्स शहर गया।
वे हैं जिंदा पर मरे से, खुद में ही डूबे हुए,
मर गया वह पर जहाँ के लिए क्या क्या कर
गया।

एक वे हैं जो लगाते कहकहे हैं कल्ल कर,
एक वह है जो किसी के अशक देख सिहर गया।
जंगलों के बीच से गुजरा किया बेखौफ सा,
आज देखा आपको तो वह अचानक डर गया।

३.

मेरे दिल में तेरा ही नाम है शुभ अक्षरों में खुदा
हुआ,
फिर क्या पता किस हेतु तू चुपचाप मुझसे जुदा
हुआ।
मुझे है पता कि हूँ आदमी मामूलियत से बना
हुआ,
इतरा रहा है घमंड से बता तू कहाँ का खुदा
हुआ।
हलचल भरा है जिगर मेरा कहने को क्या क्या
उमड़ रहा,
पर बात है जाने न क्या मुँह मेरा कबसे मुँदा
हुआ।
दिया क्या-क्या प्यारे जहान ने मुझको कि मैं हूँ
हँसी बना,
कितना किया करता रहा अब तक न कर्ज अदा
हुआ।
कब तक रहेगा बना भँवर गलियों में कलियों
की घूमता,
अब घर को अपने सँभाल तू अब तो है शादी
शुदा हुआ।
पल भर को नहीं चैन से सो पाया आदमी,
सपनों से आज नींद परेशान हो गई।

रोती रही अकेली पड़ी रागिनी उसकी,
लोगों के स्वर मिले तो वो सहगान हो गई।

४.

रास्ते में रोशनी तेरी मुसकान हो गई,
पहचान थी न तुझसे यों पहचान हो गई।
कितना मैं चला चलता राह, राह कठिन थी,
रेख जो तुझे राह वो आसान हो गई।
कल तक तो उदासीन सी थी मुझसे ये दुनिया,
जाने क्या हुआ कदरदान हो गई।
था रात का तमस न रहा सूझता कुछ भी,
लेकिन ये शमा मेरी निगहबान हो गई।
आई थी खुशी घर मेरे रहने के वास्ते,
दो दिन से लिए हाथ वो मेहमान हो गई।
धड़कन से भरा आदमी खाता रहा ठोकर,
पत्थर से बनी मूर्ति लो भगवान हो गई।

**आर ३८, वाणी विहार,
उत्तम नगर,
नई दिल्ली-११००५९**

□

सत्य शुचि की पाँच लघुकथाएँ

१. फेरो ब्लाक के दिन

चाँग गेट शहर की धड़कन थी। और प्रशासन अभी एक गहरी नींद में मस्त था। कि पुरानी रोडवेज बुकिंग के सामने नाले पे लगे उन फेरोब्लाकों में से एक फेरोब्लाक आते-जाते वाहनों के भार से टूट-बिखर गया था।

किस्सा यह है कि उस टूटे फेरोब्लाक (फेरोकवर) से कई वाहन चालक चोटिल हो चुके थे। जिस पर प्रशासनिक स्तर पर कई प्रभावशाली लोगों ने तनिक प्रयास भी किए थे। किंतु, प्रशासन न जाने क्यों उस टूटे-फूटे फेरोब्लाक पर ध्यान नहीं दे पा रहा था। शायद, प्रशासन की अपनी व्यस्तताएँ रही हों!

मगर एकाएक उस दिन प्रशासन नींद से जागा। और तभी जनता ने राहत महसूसी थी।

— अरे, भई! ये अचानक नाले पर नया फेरोब्लाक! एक राहगीर ने जिज्ञासावश काम करते हुए उस कर्मचारी को कुरेदा।

— आपको पता नहीं है क्या! सार्वजनिक निर्माण विभाग का वह कार्मिक अपनी झोंप मिटाने की मुद्रा में बोला था, शहर की नाक थोड़े कटने देगा हमारा विभाग... आखिरकार, मंत्रीजी का आगमन आज इधर होने को है!

२. लक्ष्य तक

उस घर में गृह युद्ध जल्द ही स्वतंत्रता आंदोलन के रूप में परिवर्तित हो चुका था। वस्तुतः आंदोलन का तात्कालिक कारण छोटे भाई की बहू की अप्रतिम सुंदरता थी।

करीबन एक महीने की अवधि तक चले इस आंदोलन-संघर्ष का एक सीमित दायरा घर ही था। लेकिन, इसी दरम्यान घर के कोने-कोने में आंदोलन की चिनगारियाँ यदा-कदा बरसती-फूटती रहीं और गौरतलब है कि आंदोलन में दोनों भाइयों की पत्नियाँ ही हिस्सेदार थीं।

आखिरकार, एक दिन आंदोलन उग्र रूप के चलते एकाएक समाप्ति पर पहुँच गया। और दिलचस्प बात यह है कि दोनों की पत्नियाँ जंग जीत गईं।

मगर देखते-देखते चकित-सा एक परिणाम सामने आया कि एक घर में ही दो घर बस गए...। और अब घर शांत था।

३. शिष्टाचार का भोजन

उस पंडाल में सारे मेहमान खाना खा चुके थे। मगर वहाँ सिर्फ वह अकेला बचा था खाने के लिए।

— अरे, भई! उसी समय लड़की के पिता झुंझलाते आए और उससे पूछा, आपने खाना क्यों नहीं खाया... कोई तो वजह!

— हाँ..., है! फौरन उसने भोजन संबंधी अपनी दुविधा उजागर की। — जमीन पे बैठकर खाने में मुझे जरा दिक्कत थी। यानी कि मैं बैठकर खा नहीं सकता था।

— तो..., यह समस्या आप मुझे पहले ही बोल देते तो मैं आपके लिए अलग से व्यवस्था करवा देता, समझो।

— ना...ना! जब सबके सब लोग नीचे बैठे-बैठे भोजन कर रहे थे तो मैं कहीं कुर्सी पर बैठकर लोगों के बीच तमाशा नहीं बनना चाहता था।

— इसमें कैसा तमाशा?'

— ये चीज आप नहीं समझेंगे...।'

और कहते-कहते खिन्न भाव से वह बाहर निकल गया।

४. अतीत का आम आदमी

मंत्रीजी का विमान लेट हो गया। और तत्काल उनमें गुस्सा फूटा। मगर अचानक उस समय जाने क्या सोच-समझकर उन्होंने गुस्सा थूक दिया और आनन-फानन में उनकी गाड़ी सचिवालय की तरफ मुड़ गई।

...मंत्री तो वह आज बने हैं। किंतु, कल तक वह भी तो एक आम आदमी ही थे। सो, उन दिनों में भी विमान का घण्टे-डेढ़ घण्टे देरी से उड़ना आम बात थी। रूमाल से पसीना सुखाते-पौँछते से उन्होंने सोचा, उनको भी अब अपने अतीत को चिरस्मरण करते हुए सहन करने की आदत डाल लेनी चाहिए।

और वह निमग्न से विभागीय फाइलों को निपटाने में जुट गए।

५. बधाई-व्यथा

उस दिन सुबह जल्दी उठते ही मैंने चाय पी ली थी।

— बधाई हो!’ ड्राइंग रूम में पत्नी का अचानक स्वर फूटा।

— क्या...! काहे की बधाई!’ भौंक्का-सा मैं चाय की चुस्कियों में डूबा था।

— चलो, मेरा एक प्रोजेक्ट पूरा हुआ।’ पत्नी की मुस्कान में अचरज झलका।

कोई लॉटरी निकली है या कि कहीं से शुभ-शुभ समाचार। चाय की आखिरी घूंट लेते-लेते मैंने कयास लगाया।

— अरे...! आपको पता है कि उसकी वजह से मैंने घर में कितना नुकसान झेला है। मगर एक अच्छी खबर है कि वह अब नहीं है। पत्नी का चेहरा मुदित था।

— लेकिन, घर में सब खैरियत तो है, देवी!’ एकटक निहारता-सा मैंने उसे झिंझोडा था।

— इसमें चिंता जैसी कतई बात नहीं है।’ उसने मुझे आश्वस्त करना चाहा।

— तो फिर... आखिर है क्या।’ मेरी जिज्ञासा बलवती हो चली।

इस सामने की दीवार पे लगे कलैण्डर को आप बड़े गौर से देखे-सोचें और कुछ बताएँ मुझे भी...। एक साँस में उगलकर पत्नी मुड़ गई।

और तत्काल मैं अभी एक गहरे सोच में डूबे उस कलैण्डर को निहार कर रह गया। तभी मेरे जेहन में तनिक कौंधा, गणेशजी भगवान अपनी सवारी पे विराजमान हैं...। क्षण भर में ही पत्नी के दिमाग पर तरस खाता-सा मेरा मन छलनी हो उठा। और मैं व्यथित-सा बुदबुदाया, क्या पत्नी के वास्ते चूहे को मारना किसी बधाई से कम तो नहीं है...।

और सहसा, उस जीव-हत्या के शोक में मेरे नेत्र भीगकर रह गए।

डॉ. उषा दुबे द्वारा वरिष्ठ लेखक एवं कवि डॉ. रामदरश मिश्र का साक्षात्कार

प्रश्न. परिवार में वह सदस्य कौन है? जिसका सबसे ज्यादा प्रभाव आप पर पड़ा है।

उत्तर - प्रभाव बहुत छनकर आते हैं। माँ और पिता का प्रभाव बच्चों पर परोक्ष रूप से पड़ता ही है। मेरा घर बहुत अभावग्रस्त रहा है, पिताजी सैलानी थे, मां ही हम सबको संभालती थी। माँ ममतामयी थी, प्यार भी था और उनमें सांस्कृतिक चेतना भी थी। वे अपने आस-पास के सखियों-सहेलियों की नेता थीं। गाना-बजाना और तमाम कहानियाँ राजाओं की और परियों की सुनाती थीं। ये सांस्कृतिक भाव मुझे माँ से ही मिले होंगे। पिताजी घर के काम-काज से मुक्त थे। वह बहुत भावुक थे। भाई साहब घर को संभालने के लिए नौकरी करने लगे और उन्होंने घर को उबारा भी। मेरी सारी पढ़ाई भाई साहब के पैसे से हुई लेकिन मैं अपने पिता की तरह भावुक था। जब मैं बच्चा था, तो नहीं जानता था कि कविता क्या होती है, कविता का उद्देश्य क्या होता है। मुझमें उस समय कविता लिखने की इच्छा होती थी। भाई साहब के साथ हम लोग बहुत जुड़े थे। उनकी तरह हम नहीं हुए। उनमें जो शक्ति व तनाव था वह मुझमें नहीं है। मेरे भाई साहब मुझे बहुत प्यार करते थे क्योंकि मैं बहुत शांत एवं सरल था। मेरे मँझले भाई साहब रामनवल जी बड़े ही रंगीन किस्म के हैं। आज भी वे जीवित हैं और भोजपुरी के प्रसिद्ध कवि हैं। हमारे बड़े भाई साहब हमें ज्यादा प्यार करते थे। रही बच्चों की बात तो बच्चों का संस्कार मुझ पर क्या पड़ेगा ? ये जो बैठी हुई हैं, इनका संस्कार कहे तो ये मुझमें समाई हुई हैं। इनका प्यार, इनका संस्कार, समर्पण और त्याग इस घर के लिए पाथेय है।

प्रश्न. सर रचनात्मकता के वक्त आपको कोई बाधा आयी?

उत्तर - नहीं। मुझे लिखने में कोई बाधा नहीं आयी। जब मैं लिखता हूँ और कोई बीच में आ जाता है तो मुझे कोई विशेष दिक्कत नहीं होती है। 'जल टूटता हुआ' उपन्यास मैंने ३-४ साल में पूरा किया। सन् १९६४ में पूरा हुआ। मुझे दिक्कत नहीं हुई रचना करने में। अकेला मैं कमाने वाला था, इस क्षेत्र में कभी कापी जाँचना हुआ, लेखन कार्य से जीवनशैली चलती थी। मुझे लेखन से पैसे मिलते रहे। वैसे लेखन के साथ अन्य कार्य करने भी जरूरी थे।

प्रश्न. सर, आप गोरखपुर के हैं, गोरखपुर के बारे में थोड़ा बताइए?

उत्तर - गोरखपुर के गाँव में पढ़ा, उसके आस-पास पढ़ा और बरहज गया। सन् १९४५ में बनारस गया। १९४८ में मेरी शादी हुई, तो यहीं से गोरखपुर जाना शुरू हुआ। पहली याद गोरखपुर की यही है। गोरखपुर के बाद की यादें वहाँ की हैं- जहाँ मेरी शादी हुई। गोरखपुर की याद में एक और बात- सन् १९५१ में मेरे भाई साहब और गाँव वालों ने मुझे एम.एल.ए. के लिए उठा दिया लेकिन पर्चा खारिज हो गया। अगर मैं उसमें चला गया होता तो तबाह हो गया होता।

प्रश्न. सर, आप गुजरात से दिल्ली चले आए हैं। क्या अब भी गुजरात जाना होता है?

उत्तर- हाँ, आज भी जाता हूँ, मुझे लोग आज भी बुलाते हैं।

प्रश्न. तो अभी भी आप यात्रा करते हैं?

उत्तर - कहीं जा पाता हूँ और कहीं नहीं जा पाता हूँ। अभी इन्दौर जाना है। वहाँ २५ को हिंदी मध्य भारत समिति के लोगों द्वारा मुझे सम्मानित किया जाएगा। उन्होंने पिछले साल से एक सम्मान शुरू किया है, शताब्दी सम्मान। यह उनका प्रथम पुरस्कार है।

प्रश्न. सर, आपकी रचनाओं में जो भी पात्र हैं वे पात्र आप स्वयं हैं या गढ़े गये हैं, आपके द्वारा बनाए गए हैं?

उत्तर - मेरी रचनाएँ मुझसे जुड़ी हुई हैं। कुछ भाई साहब से जुड़ी हुई हैं। कोई भी जीवन्त आदमी जो होता वह ऐसे ही नहीं आता है। सब कल्पना से जुड़ी हुई हैं। 'जल टूटता हुआ' में समग्र गाँव की चर्चा है जिसमें एक चरित्र का विकास करते हुए दूसरे से जोड़ते हैं तो रचनाओं में कोई भी जीवन्त आदमी ही ज्यों का त्यों नहीं आता है, काव्य के तमाम संदर्भों के साथ पात्र-योजना की जाती है।

प्रश्न. आप कवि और रचनाकार दोनों हैं, लेकिन आपके अनुसार आपको क्या पसन्द है?

उत्तर - मुझे दोनों पसन्द हैं। ये सवाल प्रायः आता है तो मैं कहता हूँ—कविता मेरी प्रथम प्रीत है। कविता, मेरी कहानी में, उपन्यास में भी है। लोग पूछते हैं कविता से आप कथा में क्यों आए? कविता के बाद मैं कथा में आया तो मुझे कथा भी उतनी ही प्रिय है जितनी कविता। कविता की अपेक्षा कथा ज्यादा रुचिकर रही है। कथा अधिक समीप लगती है और मेरा ख्याल है कि कथा की अपेक्षा कविता पर शोध करना कठिन होता है। कविता से निकालना पड़ता है कि इसका सार क्या है? इसका कथ्य क्या है? इन दिनों उम्र की थकान है, कहानियों और उपन्यासों में बहुत कुछ कह चुका हूँ। अपने जीवन का। मैं कविता के साथ था, और आज भी हूँ।

प्रश्न. सर, आपकी एक गजल है। 'जहाँ आप पहुँचे छलांगे लगा कर वहाँ मैं भी

पहुँचा मगर धीरे-धीरे... वो आपकी जीवन शैली को बयाँ करती है?

उत्तर - बंबई में जब मैं गया था सन् १९९८ में तो यही कविता पढ़ रहा था। जहाँ आप पहुँचे छलाँग लगाकर वहाँ मैं भी पहुँचा... तो लोग चिल्लाए 'मगर धीरे-धीरे..'

प्रश्न. सर, आपको अभी व्यास सम्मान प्राप्त हुआ है, उससे आपको कैसा लग रहा है?

उत्तर - ये अभी मिला नहीं है। यह सिर्फ घोषित हुआ है। यह सम्मान मुझे अधिक प्रिय लगा क्योंकि मेरी कविता को मिला है, 'आम के पत्ते' - कविता संग्रह पर मिला। मुझे लगता है कि इस सम्मान ने मेरी कविता को रेखांकित किया है मेरी कविता मुझे पसंद और बेहद प्रिय है।

प्रश्न. - उपन्यास और कहानी में गाँव का सच है लेकिन आज जो सच देखते हैं तो आपको निराशा होती होगी कि गाँव ऐसा रह गया है? लोगों में प्रेम कम हो गया है?

उत्तर - हम लोगों को बड़ा खराब लगता है कि हम जिस गाँव को छोड़कर आये थे तो वह गाँव बहुत अच्छा था। मेरा एक उपन्यास है 'बीस बरस'। उसमें मैंने दिखाया है कि उसमें ऐसे मूल्य थे जो अच्छे थे लेकिन वो खो गये हैं। बहुत से मूल्य खो गये जो वांछनीय नहीं थे। गाँव में भाईचारा था, उत्सव त्योहार में लगाव था। प्रकृति के साथ गहरा लगाव था। एक गजल है-

पेट खाली था मगर दिल था भरा त्योहार से

अब भरा है पेट, दिल कंगाल जैसा हो गया।।

पेट खाली था। लोग गरीब थे लेकिन बड़े उल्लास के साथ जीते थे। सबमें एक अपनापन था। एक संबंधी दूसरे घर का संबंधी होता था।

एक शेर है-

कितने अच्छे लोग थे जिनको अपने गम से फुर्सत थी।

पूछे थे सवाल जो कोई दर्द के मारे गुजरा था।

इस बाजारवाद और राजनीतिक विसंगति ने सब तोड़ डाला। लेकिन एक चीज अच्छी हुई है, दलित और नारी के रूप में। आज नारी जाग रही है। नारी और दलित के प्रति जो समाज का रूप था वो आज टूटा है और नया मूल्य बन रहा है और यह अच्छा लग रहा है।

प्रश्न. सर, हिंदी के प्रति जो लोगों का रुझान कम हुआ है और पाठक वर्ग में जो कमी आयी है उसके बारे में आप क्या कहेंगे?

उत्तर - कमी तो चिंता की बात है ही। खास तौर पर यह है कि हिन्दी क्षेत्र में कमी ज्यादा आयी

है। इसके कई कारण हैं। एक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया भी कारण है। लोग साहित्य पढ़ते थे पहले जो कि मात्र मनोरंजक होती थी, या प्रेमचन्द्र को पढ़ते थे। अब कौन पढ़ने जाए? टी.वी. खोल दिया, मनोरंजन उठा रहे हैं। लेकिन मुझे लगता है कि जो सिनेमा है वो अब हमारे समाज के यथार्थ के सही प्रस्तोता नहीं है। सही चेहरों को नहीं दिखा पाते। साहित्य एक ऐसा माध्यम है जो समाज के सही चेहरों को दिखाता है। एक साहित्य है जो पाठक का सही मार्गदर्शक होता है। दूसरा ये है कि उपभोक्तावाद ने हमें बहुत हल्का बना दिया है। लोगों के घरों में सब कुछ है लेकिन पुस्तक नहीं है। हमारे घर में ये है, हमारे घर में वो है लेकिन उसमें किताबें नहीं रह गयीं। एक कविता है कि मेरे कमरे में सब कुछ है लेकिन मैं नहीं हूँ। यहाँ 'मैं' पुस्तक है। घर में बाजार आ रहा है, लोग घर के बाहर हैं। कारण कुछ भी हो, पुस्तकों का और पाठकों का घटना एक चिंता का विषय है ही लेकिन मुझे ये नहीं लगता कि पाठक नहीं रहेंगे। एक नया दौर आया कि हिंदी को पाठक अपनाएंगे। दूसरी बात यह है कि जिसको लिखना है वो लिखेगा ही। हम ये भी चाहते हैं कि हमारा लेखन लोग पढ़ें।

प्रश्न. हिंदी की रचना एवं संपादकों के बारे में आप के क्या विचार हैं?

उत्तर - मैं किसी दल में नहीं रहा। मेरी मुश्किल यह है कि चाहे कहानी हो कविता हो अमुकवादी कविता, अमुकवादी कहानी तो मैं किसीवादी में नहीं हूँ। वाद वैचारिक हो या व्यवहारिक हो अच्छा नहीं है। हिन्दी में हम अनुभव करते आ रहे हैं कि स्वाधीनता के बाद कितने वाद चले और हर वाद एवं आंदोलन में कुछ तो शारीक हुए फिर दूसरे लोगों का अलग दल हो गया।

दिल्ली में कैसे-कैसे दल बने और कैसे-कैसे आंदोलन चले हैं और कुछ दिन बाद बचता केवल साहित्य ही है। दल तो समाप्त हो जाता है वो चाहे आलोचना हो या विचार हो।

प्रश्न. सर, जैसे कोई इन्सान बहुत ज्यादा ईमानदार है बहुत ही अच्छा है, अगर उसे सफलता की सीढ़ी चढ़ना है तो कुछ लोग उसके पैर खींच लेते हैं कि हम आपको चढ़ने नहीं देंगे। पहले मैं ही जाऊँगा। जैसे नैतिकता और सफलता की दो राहों पर जो इंसान खड़े हैं तो आप उनके बारे में क्या कहेंगे। उन्हें नैतिकता की ओर जाना चाहिए कि सफलता की ओर।

उत्तर - देखो, ऐसा है कि साहित्य में सफलता बड़ी ही क्षणिक चीज होती है, सबसे बड़ी चीज होती है अपनापन। आप क्या है? आपका रास्ता क्या है? आपका निजी सौन्दर्य क्या है? तो सवाल नैतिकता का नहीं है सवाल ये है कि हम अपनी बात कह रहे हैं, कि अपने ढंग से कह रहे हैं। अपनी भाषा में तो लगता है कि ये आदमी जो है ये अपने जैसा है, नहीं तो उनके जैसा दिखते हैं। जैसे अमुकजी संपादक हैं जो चाहते हैं लड़कियों के बारे में ऐसी कहानी लिखी जाए। अगर आप ऐसी कहानी लिखते हैं संपादकों को देखकर के, आलोचकों को देख करके या आप इसी तरह कविता लिखें तो ये दूर तक नहीं चलता है। जो आप अपना अनुभव कर रहे हैं उसे आप अपने ढंग से लिखो।

मेरी एक कविता है-

रास्ता चिकना था, हरा भरा था लेकिन अपना नहीं था इसलिए जब-जब इस पर पाँव रखा फिसलकर गिर पड़ा। अपना रास्ता बीहड़ है, सुनसान है, तपता है, हैरान करता है, लेकिन गिरता नहीं खड़ा करता है, बाहर-बाहर घिसता है, भीतर-भीतर-बड़ा करता है।

यह एक तरीका है साहित्य का कि आप अपने रास्ते चलिए। आज आप कहते हैं ये निराला है, दिनकर है। इन बड़े कवियों की पहचान होती है।

प्रश्न. आप एक सफल प्राध्यापक रहे तो आज के जो प्राध्यापक है आप उनको कुछ संदेश देना चाहते हैं।

उत्तर - देखिए- मैं जब अध्यापक रहा हूँ, उसका अनुभव बता रहा हूँ आपको। मेरे लिए विद्यार्थी ही सब कुछ होता था। गया क्लास में पढ़ाया भी और घर आया। कभी भी क्लास की उपेक्षा करके मैंने बड़े लोगों से संपर्क नहीं बनाया। कभी भी मैंने बड़े लोगों से पहचान करने की कोशिश नहीं की। जो कुछ जानता था, उसे छात्रों को दिया। एक ही किताब मैं हर साल पढ़ता और हर साल पढ़ता था। एक चीज और भी है अध्यापक दो तरह के थे। आज भी होंगे। एक तो वो थे जो कि सपाट शास्त्रीय ढंग के थे। मैं यहाँ आया था डिग्री कालेज में डॉ. नागेन्द्र ने मुझे एम.ए. क्लास दे दी थी। बड़ी मुश्किल थी। लड़के पूछते थे अलंकार कौन सा है? उसमें आपकी भाषा में उर्दू के शब्द क्यूं आ गये हैं और उन्हें कुछ अलग ढंग बताइये। मैं कोशिश करता था कि क्लास में कुछ अलग सी प्रतिभाएँ हैं, उन्हें मैं ढूँढ़ता था। डॉ. नागेन्द्र जो बड़े तपे हुए विभागाध्यक्ष थे वो छायावाद के बाद आगे नहीं बढ़ते थे।

अभी मैं एक कॉलेज में साल भर बोर्डिंग पार्टी का चेयरमैन था। थोड़ी नियुक्तियाँ की मैंने। चार नियुक्तियाँ हिन्दी में की जो सबसे कमजोर लड़का था वो कवि था, बाकी तीन तेज थे। उसको भी डर था कि हमें नहीं लिया जाएगा। मैंने कहा नहीं, इसको जरूर लिया जाएगा, क्योंकि आगे चलकर यही इस कालेज की शान होगा और वहीं साबित हुआ कि वहीं चमक रहा है। वही सम्मानित हुआ। वो कहाँ क्या लिखा जा रहा है, उसकी खोज खबर रखता है। तो 'राग-दरबारी' छपा था हमारे एक कलीग थे जो अच्छे अध्यापक थे और मशहूर नोट राइटर थे। तो राग दरबारी की चर्चा हो रही थी। वे हमारे घर आएँ पूछने कि 'राग दरबारी' क्या चीज है तो हमारे बेटे हेमन्त ने कहा ये पढ़ाते हैं और पूछते हैं कि रागदरबारी क्या है? ये उपन्यास किसका है? मैं सन्देश क्या दूँ, और उपदेश क्या दूँ? अपना अनुभव सुना रहा हूँ।

मेरे अनुसार रटा-रटाया विषय बाँचने वाला अच्छा प्राध्यापक नहीं हो सकता। वह जो खुली दृष्टि रखता है, सीखना चाहता है, रचनात्मक समझ रखता है, वहीं अच्छा प्राध्यापक होगा, क्योंकि उसे अपनी और विद्यार्थियों की समझ होगी।

**सहायक-प्राध्यापिका
एम.डी. महाविद्यालय
परेल, मुम्बई.**